

ॐ

परमात्मने नमः

अष्ट प्रवचन

(भाग - 2)

श्री तारणस्वामी विरचित
श्री 'उपदेश शुद्धसार' आदि ग्रंथों पर
पूज्य श्री कानजीस्वामी के
सम्यक्त्व प्रेरक
आठ अमृत-प्रवचन

: संकलनकर्ता :

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: अनुवादक :

श्री ताराचन्द समैया
ललितपुर (मध्यप्रदेश)

: सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशकीय निवेदन

गुरु महाराज श्री तारणस्वामी ने अपनी मंगल-वाणी से भव्यों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि समस्त जनरंजन एवं मनरंजन को छोड़कर जिनरंजन और आत्मरंजन के कार्य में एकान्तरूप से मन लगे बिना अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। अनादि काल से यह आत्मा अपने शुद्ध पारिणामिक परमभाव को भूलकर पंच परावर्तनरूप संसार में भ्रमण कर रहा है। अनन्त काल में एक क्षण भी अपने आत्मा के सुख का आस्वादन किये बिना कृत्रिम, काल्पनिक, क्षणिक सुख की आशा में दौड़ रहा है, इसे अपने लक्ष्य का न तो ध्यान है और न उसे प्राप्त करने की विधि ही जानता है।

संसार के अनन्त प्राणियों की भाँति भटकते-भटकते महाभाग्य से हमें यह मनुष्यभव एवं जिनधर्म की प्राप्ति हुई; परन्तु कुलपरम्परा से पूजा-पाठ और स्वाध्याय-भक्ति की रागमय प्रवृत्ति में ही हम धर्म मान रहे थे; वास्तव में धर्म क्या है—इसका हमें बोध भी नहीं था परन्तु पुण्योदय से एकबार हमारा सोनगढ़ जाना हुआ जहाँ पूज्य श्री कानजीस्वामी अपनी सातिशय दिव्यवाणी से निरन्तर शाश्वत् दिगम्बर जैनधर्म का यथार्थ उपदेश दे रहे हैं। उनकी वाणी द्वारा जब हमने सुना कि प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, जड़-चेतन अपने-अपने स्वचतुष्टय में रहकर उत्पाद-व्यय की क्रिया बिना किसी व्यवधान के कर रहे हैं, किसी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य के कार्य में साधक या बाधक होने का अवकाश ही नहीं है—तब हमें अपार शान्ति का अनुभव हुआ और ऐसा लगा कि सचमुच पूज्य स्वामीजी हमारे महाराज श्री तारणस्वामी के हृदय में बैठकर उनकी बात हमारे आत्महित के लिये समझा रहे हैं।

अपने परम्परागत संस्कारों के अनुसार जब हमने गुरु महाराज श्री तारणस्वामी के वचनों पर विचार एवं मनन किया तब हमें ख्याल आया कि—उनके भावों को भूलकर हम सब अपना हित करने के बदले अहित कर रहे हैं एवं अन्तर में जिज्ञासा हुई कि यदि पूज्य स्वामीजी गुरु महाराज श्री तारणस्वामी के ग्रन्थों पर प्रवचन करें तो उनकी सातिशय वाणी से हमारे ग्रन्थों में भरे हुए भावों का स्पष्टीकरण होगा तथा हम अपनी खोयी हुई निधि को पहिचान सकेंगे। अवसर पाकर हमने पूज्य स्वामीजी के निकट अपनी हार्दिक भावना व्यक्त की। हमारे प्रति पूज्य स्वामीजी का पुत्रवत् वात्सल्य है और निरन्तर हमें सत्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे रहे हैं... उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार करके 'श्री ज्ञानसमुच्चयसार' आदि ग्रन्थों पर प्रवचन किये, उनमें से पहले आठ प्रवचन हम 'अष्ट प्रवचन' के नाम से प्रकाशित करवा चुके हैं और यह दूसरा भाग आपके हाथ में है। आशा है यह दूसरा भाग भी मुमुक्षुओं को आत्महित में सहायक होगा।

पूज्य स्वामीजी की हमारे ऊपर इतनी महान कृपा है कि जब हमने सन् १९६५ फरवरी में निसईजी क्षेत्र पर पधारने की प्रार्थना की तब पूज्य गुरुदेव ने उसे स्वीकार कर लिया और संघसहित निसईजी पधारकर अपने शुभहस्त से नवनिर्मित भव्य स्वाध्यायमन्दिर का उद्घाटन किया, एवं तिलक-प्रतिष्ठा महोत्सव की शोभा बढ़ायी। इसी अवसर पर श्री पण्डित बाबूभाई फतेपुरवाले भी हमारे निवेदन पर छह सौ यात्रियों के संघसहित निसईजी पधारे थे और वीतराग धर्म एवं जिनशासन की अपूर्व प्रभावना हुई थी।

ब्रह्मचारी श्री हरिलाल जैन के हम बहुत आभारी हैं जिनके परिश्रम से यह पुस्तक हम आपके हाथ में दे सकें हैं। अजित मुद्रणालय के मालिक श्री मगनलाल जैन का भी हम आभार मानते हैं जिन्होंने इस पुस्तक की छपाई का कार्य अल्प समय में सुन्दर ढंग से कर दिया है। साथ ही हम भाई ताराचन्दजी समैया ललितपुरवालों को भी धन्यवाद देते

हैं कि जिन्होंने श्री ब्रह्मचारी हरिलालजी द्वारा लिखे गये गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद बड़े परिश्रमपूर्वक सरल एवं सुन्दर भाषा में कर दिया है। अन्य सब सहयोगियों का भी हम आभार मानते हैं। अन्त में हम भावना भाते हैं कि—आत्मस्वभाव से अभिन्न एवं समस्त परभावों से भिन्न एक, पूर्ण, अनादि-अनन्त, मुक्त, समस्त संकल्प-विकल्पजाल जिसमें अवगाहन करने से विलीन हो जाते हैं—ऐसा प्रकाशमान शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत पदार्थ हम सबके हृदय में उदयमान हो।

सोनगढ़
श्रावण पूर्णिमा
वीर संवत् २४९६

विनीत—
भगवानदास शोभालाल

भूमिका

वीर संवत् २४८८ में दसलक्षण पर्यूषण पर्व के समय सागर निवासी समाजभूषण सेठ श्री भगवानदासजी, सेठ श्री शोभालालजी, टिमरनी निवासी सेठ श्री चुन्नीलालजी, पण्डित श्री जयकुमारजी आदि महानुभाव सोनगढ़ आये थे; उस समय समयसार की ४७ शक्ति के ऊपर एवं प्रवचनसार के ऊपर पूज्य श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूर्ण प्रवचन सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए, और उनको श्री तारणस्वामी रचित शास्त्रों का मार्मिक अर्थ पूज्य श्री कानजीस्वामी के श्रीमुख से सुनने की जिज्ञासा हुई। उनकी विनती के अनुसार श्री तारणस्वामी विरचित श्री ज्ञानसमुच्चयसार आदि ग्रन्थों के सारभाग के ऊपर श्री कानजीस्वामी ने अध्यात्मभावना से भरपूर विवेचन किया। यह आध्यात्मिक विवेचन सुनकर सेठ श्री भगवानदासजी, शोभालालजी आदि को बहुत प्रसन्नता हुई और आठों प्रवचन छपवाने की उनकी भावना हुई। तदनुसार उन्हीं प्रवचनों का संग्रह 'अष्ट प्रवचन' (प्रथम भाग) के रूप में (हिन्दी-गुजराती दोनों भाषाओं में, छह वर्ष पहले) प्रकाशित हो चुका है; जो कि जिज्ञासुओं को सम्यक्त्व की उत्तम प्रेरणा देनेवाला है।

वीर संवत् २४८८ के बाद भी प्रतिवर्ष सेठश्री सोनगढ़ आते रहते हैं, और उत्साह से स्वामीजी के प्रवचनों का लाभ लेते हैं। आपने करीब दो लाख रुपयों की लागत से सोनगढ़ में विशाल मकान बनाया है, जिसका वातावरण तत्त्वचर्चा आदि से एक आध्यात्मिक आश्रम जैसा बना रहता है। दूसरी साल (वीर संवत् २४८९ में) सेठजी को फिर से श्री तारणस्वामी के ग्रन्थों के ऊपर विवेचन सुनने की उत्कण्ठा हुई, और तदनुसार पूज्य श्री कानजीस्वामी ने दूसरी बार भी अष्ट प्रवचन किये; अबकी बार श्री तारणस्वामी रचित 'उपदेश-शुद्धसार' के मोक्षमार्ग नामक अधिकार पर प्रवचन किये; उसमें यह समझाया है कि सच्चा जिनोपदेश कैसा होता है? उसका सार क्या है? और जिनोपदेश में मोक्षमार्ग कैसा दिखाया है? उस मोक्षमार्ग का मूल सम्यग्दर्शन है, उसका स्वरूप भी खूब समझाया है जो कि प्रत्येक मुमुक्षु के लिये अत्यन्त उपयोगी है। दूसरी बार के यह अष्ट

प्रवचन इस पुस्तक में प्रकाशित हो रहे हैं। अष्ट प्रवचनों के उपरान्त दो परिशिष्ट दिये हैं; प्रथम परिशिष्ट में समयसार गाथा १४४ का प्रवचन है- जिसमें सध्म्यक्त्व प्राप्त करने की रीति अनोखे ढंग से समझायी है; और दूसरे परिशिष्ट में, सेठश्री के नये भवन का सोनगढ़ में जब उद्घाटन हुआ उस समय भवन में ही दिया गया स्वामीजी का प्रवचन है - जिसमें सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा की दिव्यदृष्टि का रहस्य खोला है। इस तरह से यह दूसरे 'अष्ट प्रवचन' भी जिज्ञासु जीवों को बहुत उपयोगी हैं और सच्चे मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाकर सम्यग्दर्शन की प्रेरणा देनेवाले हैं।

इसके उपरान्त फिर तीसरी बार भी स्वामीजी के अष्ट प्रवचन हो चुके हैं - जो कि यथासमय प्रकाशित होंगे।

श्री ज्ञानसमुच्चयसार, उपदेश-शुद्धसार, श्री ममलपाहुड एवं श्री श्रावकाचार आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री तारणस्वामी विक्रम संवत् की १६ वीं शताब्दी में मध्यप्रान्त में हुए। मध्यप्रान्त में अनेकों जिज्ञासु आपकी अध्यात्मशैली से प्रभावित हैं। आपके द्वारा रचे गये ग्रन्थों में बारबार श्री कुन्दकुन्दस्वामी, अमृतचन्द्रस्वामी, समन्तभद्रस्वामी आदि आचार्यों के समयसार-प्रवचनसार-स्वयंभूस्तोत्र आदि शास्त्रों का प्रभाव दिख रहा है। आपकी प्रतिपादन शैली अध्यात्मरस से भरपूर है, इससे आपके ग्रन्थों के ऊपर दिये गये वह प्रवचन भी अध्यात्मरसिकजनों को अवश्य रुचिकर होंगे। अध्यात्म-प्रेमी सेठ श्री भगवानदासजी शोभालालजी ने इन प्रवचनों के प्रकाशन द्वारा अपनी अध्यात्म प्रचार की जो भावना व्यक्त की है और स्वयं भी अध्यात्म का जो लाभ रहे रहे हैं वह प्रशंसनीय है। हमारे साधर्मी बन्धु भी इस 'अष्ट प्रवचन' के द्वारा अध्यात्मरस का पान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करें और मोक्षमार्ग के पथिक बनें - यही मंगल कामना है।

श्रावण पूर्णिमा
वीर संवत् २४९६
सोनगढ़

ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

[9]

नववाँ प्रवचन

नाव की तरह आत्मा स्वयं अपने को तारनेवाला है

[वीर सं० २४८९, भाद्रपद कृष्णा १०]

सर्वज्ञ भगवान के उपदेश में मोक्षमार्ग कहा गया है, उन सर्वज्ञ भगवान के उपदेश का सार क्या है कि जिससे मोक्षमार्ग प्रगट होता है ? यह बात श्री तारणस्वामी ने 'उपदेश शुद्धसार' में कही है। उसमें ४९२ वीं गाथा में कहा है कि निर्मलस्वरूपी आत्मा स्वयं अपने को तारनेवाला है।

अप्यं च अप्य तारं नाव विसेसं च पारं गच्छंति।

अप्यं विमल सरूवं कम्मं खिपिऊन तिविह जोएन ॥४९२ ॥

निर्मलस्वरूपी आत्मा स्वयं अपने को तारता है। भेदज्ञानरूप विशेष नौका से आत्मा स्वयं ही संसारसमुद्र से पार होता है। जिस प्रकार नौका अपने स्वभाव से ही तैरनेवाली है; उसी प्रकार निर्मल-स्वरूपी आत्मा अपने स्वभाव से ही कर्म का क्षय करके भव समुद्र को पार करता है, इस प्रकार आत्मा स्वयं ही स्वयं को तारनेवाला है—ऐसा भगवान का उपदेश है, ऐसा उपदेश हो शुद्ध उपदेश है। 'अप्यं च अप्य तारं।' कोई दूसरा आत्मा को डुबाये अथवा कोई दूसरा आत्मा को तारे—ऐसा उपदेश शुद्ध नहीं है,

अर्थात् वह भगवान का कहा हुआ उपदेश नहीं है। शुद्ध उपदेश तो वही कहा जायेगा जिसमें आत्मा स्वयं अपने को विमल स्वभाव के आश्रय से तारता है, ऐसा बताया गया है। पर के अवलम्बन से या राग के अवलम्बन से तारने को कोई कहे तो वह भगवान का उपदेश नहीं, वह शुद्ध उपदेश नहीं परन्तु अशुद्ध उपदेश है अर्थात् मिथ्या उपदेश है। भगवान ने तो विमलस्वभाव के आश्रय से ही भव से पार होने का कहा है।

शुद्ध उपयोग ही मोक्ष जाने का जहाज है

आत्मा शुद्ध उपयोगस्वरूप है। वह स्वयं जहाज के समान है। जिस प्रकार जहाज स्वयं ही तैरकर समुद्र को पार करता है; उसी प्रकार शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयं के कर्मक्षय करके संसार से पार होता है। शुद्ध उपयोग ही कर्मक्षय का कारण है और वही भवसमुद्र से तरने की नौका है।

आत्मा एक शुद्धोपयोगभावधारी है। यही एक भाव जहाज के समान है। जैसे जहाज आप ही चलकर समुद्र पार हो जाता है; वैसे ही शुद्धोपयोगभावधारी आत्मा आप ही संसार से पार होता है। यही एक भाव कर्मक्षयकारक है। इस प्रकार शुद्धोपयोग ही मोक्ष जाने की नौका है।

शुद्धस्वभाव को साधे, वही साधु अर्थात् साधक

प्रत्येक आत्मद्रव्य में अनन्त गुण हैं, उसकी जानकारी के बिना सच्चा ध्यान या साधुपना नहीं होता। 'साधु' अर्थात् शुद्ध आत्मा का साधक, उसमें सम्यग्दृष्टि भी आ जाता है, वह अनन्त गुणरूप अपने आत्मद्रव्य को साधकर उसमें लीन होता है। 'लीन

अनन्त नन्तं....' (उपदेश शुद्धसार गा० ५५) आत्मा में काल से अनन्त, संख्या से अनन्त और सामर्थ्य से भी अनन्त गुण हैं। (क्षेत्र से अनन्त नहीं)। ऐसे आत्मा को धर्मी साधता है। साधु आत्मा की अनन्तानन्त शक्तियों के पहिचाननेवाले होते हैं। आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायों का समुदाय है, उसी आत्मा के स्वभाव में तन्मय हो जाते हैं। जीव ज्यों ही निश्चयनय द्वारा इस प्रकार अपने आत्मा को देखता है, त्यों ही समताभाव जाग्रत होता है और राग-द्वेष छूट जाता है। आत्मज्ञान के साथ वीतरागभाव आया, वही सच्चा सहकार है, उसमें ही निश्चय महाव्रत आ जाता है। रागादिभाव हिंसा है और वीतरागीभाव परमार्थ अहिंसारूप निश्चय महाव्रत है, वही सत्य स्वरूप है। उसमें परभावों का ग्रहण न होने से वह अदत्त है; ब्रह्मस्वरूप में आचरणरूप, वह ब्रह्मचर्य है; और उसमें अपने स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे का कोई ममत्व न होने से वही अपरिग्रह है। इस प्रकार वीतरागभाव में पाँचों निश्चय महाव्रत समा जाते हैं, और उसके अवलम्बन से जीव संसार से तर जाता है।

तरने का मार्ग

देखो, यह भगवान का उपदेश! वीतरागभाव ही भगवान के उपदेश का शुद्धसार है; जो जीव ऐसा उपदेश ग्रहण करके तरता है, वह अत्यन्त आदर और विनय से कहता है कि अहो! ऐसा शुद्ध उपदेश देनेवाले देव-गुरु ही तरणतारण हैं। अपने स्वतत्त्व को अनन्त गुणस्वरूप जानकर उसमें लीन होना मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपने आत्मा के आश्रय से होते हैं और उससे ही आत्मा अपने आपको तारता है। जिस प्रकार नौका का स्वयं तैरना

स्वभाव है; वैसे ही निर्विकल्प चिदानन्द प्रभु आत्मा स्वयं तरने के स्वभाववाला है, रत्नत्रय से वह स्वयं अपने को तारता है।

- * आत्मा का सम्यग्दर्शन तरने के स्वभाववाला है,
वह अपने आत्मा के आश्रय से स्वयं ही होता है;
- * आत्मा का सम्यग्ज्ञान तरने के स्वभाववाला है,
वह अपने आत्मा के आश्रय से स्वयं ही होता है;
- * आत्मा का सम्यक्चारित्र तरने के स्वभाववाला है,
वह अपने आत्मा के आश्रय से स्वयं अपने को तारता है।

—ऐसे स्व-आश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा स्वयं ही अपने को तारता है—**अप्यं च अप्यं तारं**—जिसने ऐसा मार्ग जान लिया, उसने तरने का मार्ग जान लिया, उसने भगवान के उपदेश का शुद्धसार जाना—वह स्वयं ही अपना 'तारणहार' हुआ।

तरने का उपाय बतानेवाले देव-गुरु-शास्त्र

इस प्रकार, आत्मा स्वयं विमलस्वरूप है। उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विमलपरिणाम ही मुक्ति का कारण है; दूसरा कोई मुक्ति का कारण नहीं। ऐसा मोक्षमार्ग भगवान ने कहा है और ऐसा कहनेवाले देव-गुरु-धर्म ही पूज्य हैं। पृष्ठ ५६, गाथा ७४ में कहते हैं कि सब देवों में उत्तम (अर्थात् सच्चे) श्री अरहन्तदेव ही हैं; गुरुओं में सच्ची दृष्टिवाले निर्ग्रन्थ साधु ही परमगुरु हैं; धर्मों में सर्वज्ञ-वीतरागदेव द्वारा कहा परम वीतरागभावरूप धर्म ही धर्म है; विजेताओं में उत्तम जिन परम शुद्ध ऐसे अरहन्त और सिद्ध परमात्मा हैं। मोक्षार्थी जीवों को ऐसे उत्तम देव-गुरु-धर्म ही पूजनीय हैं। भेदज्ञानपूर्वक ही इनकी सच्ची पहिचान होती है और तभी शुद्ध

सम्यक्त्व अर्थात् निश्चयसम्यक्त्व होता है। निश्चयसम्यग्दर्शन को ही शुद्ध सम्यक्त्व की तरह वर्णन किया है, वह चौथे गुणस्थान से होता है।

●●● शुद्ध सम्यक्त्व का उपदेश ●●●

शुद्ध सम्यक्त्व का कथन करते हुए गाथा ७६ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

सम्मत सुद्धं सुद्धं, सुद्धं दरसेइ विमल रूवेन।

आत्मा, राग-द्वेषरूप भावकर्मों से भिन्न, द्रव्यकर्मों से भिन्न और शरीरादि नोकर्मों से भी भिन्न है। आत्मा का ऐसा शुद्धस्वरूप देखना, अनुभव करना, इसको ही भगवान ने शुद्ध सम्यक्त्व कहा है और वह मोक्ष का मार्ग है। बीच में राग आवे तो बन्ध का मार्ग है; मोक्ष का मार्ग नहीं। अपने शुद्धस्वभाव का भान होने से शरीरमद आदि का त्याग हो जाता है, क्योंकि जब देह ही मैं नहीं, तब मद किसका? इस प्रकार शुद्ध आत्मा को श्रद्धा में लाना परमशुद्ध सम्यक्त्व है, वही निर्विकल्प सम्यग्दर्शन अथवा निश्चयसम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन का उपदेश ही शुद्ध उपदेश है। वही सार है और वही भव्य जीवों के लिये 'इष्ट उपदेश' है। इससे विरुद्ध (पराश्रय से-राग से लाभ माननेवाला) उपदेश इष्ट नहीं, सार नहीं, शुद्ध नहीं, परन्तु वह तो अनिष्ट, असार, अशुद्ध और जीव का अहित करनेवाला है।

भगवान शुद्ध द्वारा कहा गया उपदेश

श्री पूज्यपादस्वामी ने 'इष्टोपदेश' में जीव के हित का उपदेश

देते हुए कहा है कि—सभी निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं अर्थात् अकिञ्चित्कर हैं—‘गतेः धर्मास्तिकायवत्।’ (गाथा-35) कोई दूसरे को ज्ञानी अथवा अज्ञानी नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं ही ज्ञान अथवा अज्ञान करता है। स्व-आश्रय का ऐसा इष्ट (हितकर) उपदेश समझे, तब ही देव-गुरु की सच्ची पहिचान होती है। वीतरागी देव-गुरु ने क्या कहा, इसकी पहिचान के बिना देव-गुरु की शुद्ध श्रद्धा कैसे रहे ? और ऐसी श्रद्धा-प्रीति के बिना केवल शुभराग की क्रियाओं से जीव को धर्म का कोई लाभ नहीं होता। शुभभाव हों परन्तु वे कोई सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण नहीं, भगवान के उपदेश का सार नहीं, वह इष्ट नहीं। ‘उपदेश का शुद्धसार’ कहो या ‘इष्ट उपदेश’ कहो, उसमें तो आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव करने को ही कहा है; राग-द्वेष के क्षय करने का उपदेश है किन्तु उसको रखने का उपदेश नहीं। ऐसा उपदेश, वही शुद्ध उपदेश है। पुण्य से मोक्ष होना माने तो वह उपदेश भगवान का नहीं, शुद्ध नहीं, सच्चा नहीं, किन्तु मिथ्या-अज्ञानी का उपदेश है। भगवान का ऐसा यथार्थ उपदेश समझकर उसका प्रचार करने योग्य है। तारण समाज में भी ऐसे उपदेश का प्रचार होना चाहिये। श्री तारणस्वामी ने भी पृष्ठ ५८ गाथा ७७ में पुण्य और पाप दोनों को क्षय करनेयोग्य कहा है।

खिपिओ मिथ्याभावं पुन्नं पावं च विषय संखिपनं।

सम्यग्दृष्टि जीव, मिथ्यात्वभाव को तो क्षय करता है, पुण्य-पाप और इन्द्रिय-विषयों के राग को भी क्षय करनेयोग्य जानता है, तीनों प्रकार के कुज्ञानों (कुमति-कुश्रुत-विभंगज्ञान) को भी क्षय

करता है, उसको संशयादि तीन दोष नहीं, वह संसार में पड़ने के कारणरूप मोहांधभाव को भी क्षय करता है—ऐसी दशा हो जाये, तभी जीव धर्मी हुआ कहायेगा और वह भगवान के शुद्ध उपदेश को समझा कहावेगा।

भावार्थ में लिखते हैं कि—सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्वभाव नहीं रहा। न उसके कुदेवादि की श्रद्धारूप गृहीत मिथ्यात्व है और न पर पर्याय में रतिरूप अगृहीत मिथ्यात्व है। उसके भीतर शुद्ध भावों की रुचि हो गयी है; इसलिए वह पुण्य-पाप दोनों से उदासीन है। वही सच्चा वैरागी है। जो राग को उपादेय समझे, उसको सच्चा वैराग्य नहीं होता। राग का विषय पर है, राग का विषय स्व नहीं है। स्व के आश्रय से राग की उत्पत्ति नहीं होती; इसलिए वह पर पर्याय है। धर्मी को उसकी रुचि नहीं है। स्व के अनुभव में राग रहता नहीं है। ऐसा अनुभव का उपदेश सर्वज्ञ भगवान ने दिया है; अतः श्रद्धालु मुमुक्षुओं को सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा को ही सच्चा अवतत-देव मानना चाहिए और उनके उपदेशानुसार श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करना योग्य है।

**भगवान, उनकी वाणी और उसका सार,
उससे सम्यक्त्व की प्राप्ति**

गाथा ११ पृष्ठ १३ में कहते हैं कि—अनन्त चतुष्टयधारक अरिहन्त देव की महिमा अपार है, वे अनन्तानन्त पदार्थों का परम गम्भीर उपदेश देते हैं और निर्मल अक्षयदृष्टि प्राप्त कराते हैं। भगवान ने केवलज्ञान से जो जाना, उसका अनन्तवाँ भाग ही वाणी में आता है तो भी उस वाणी में अनन्तानन्त पदार्थों के स्वरूप का उपदेश

आया है, परन्तु उसका सार क्या ? कि शुद्धात्मा का अनुभव करना ही भगवान के सर्व उपदेश का सार है और उससे ही शुद्धदृष्टि (सम्यग्दर्शन) होता है। ऐसा शुद्ध उपदेश अरिहन्तदेव के शासन के अतिरिक्त अन्य में होता नहीं है।

भगवान ने अनन्तानन्त पदार्थों को जानकर कहा है, उसको जो न माने और सर्वथा अद्वैत (एक) माने तो उसके मत में सच्चा उपदेश नहीं हो सकता। अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण अनन्त पदार्थों को भगवान ने बताया है। जगत में अनन्त पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ में अनन्त पर्याय हैं, जिनोपदेश का ऐसा गम्भीर अर्थ जो स्वीकार न करे, उसको सच्ची श्रद्धा अथवा सच्चा ज्ञान नहीं होता। भगवान के उपदेश के साथ अज्ञानियों के उपदेश का मेल नहीं मिलता। अज्ञान में कुछ न कुछ विपरीतता होती है। भगवान जिनेन्द्रदेव और उनकी परम्परा में हुये श्री कुन्दकुन्दाचार्य, श्री समन्तभद्राचार्य आदि जैन सन्तों के अतिरिक्त दूसरों के मार्ग में शुद्ध वस्तु का उपदेश नहीं। श्री तारणस्वामी तो जैन-परमेश्वर के परम भक्त थे और जैन परमेश्वर का यथार्थ उपदेश था, उसके अनुसार ही उन्होंने उपदेश दिया है, उनकी तुलना जो अन्य-मतावलम्बियों के साथ करते हैं, उनको जैन तत्त्व का ज्ञान नहीं।

जिनके मत में अनन्तानन्त द्रव्य-गुण-पर्यायों की मान्यता नहीं, उनका उपदेश मिथ्या है। अहा! अनन्तानन्त द्रव्य-गुण-पर्याय के जानेनवाले सर्वज्ञ भगवान के उपदेश को पाकर तो जीव क्षायिक सम्यक्त्व पाते हैं। जिनेन्द्र भगवान का उपदेश निश्चय-सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कराता है। भगवान ने जैसा कहा है, वैसे

शुद्ध स्वभाव को दृष्टि में रखने से अवश्य सम्यग्दर्शन होगा। उसके पश्चात् क्षायिक दृष्टि होकर केवलज्ञान होगा। ऐसा शुद्ध उपदेश महान भाग्य से जीव को सुनने को मिलता है।

सच्चे देव कैसा उपदेश देते हैं? कहते हैं कि वे ज्ञानस्वभाव का ही उपदेश देते हैं। भगवान के गम्भीर उपदेश में अनन्तानन्त पदार्थों के स्वरूप बताये हैं किन्तु उनमें उपादेयभूत तो ज्ञानस्वभाव ही कहा है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान निजस्वभाव में आया, वह ज्ञान, ज्ञानस्वभाव के आश्रय से स्वयमेव वृद्धिगत होता-होता केवलज्ञान हो जाता है। मछली के अण्डे का दृष्टान्त देते हुये कहते हैं कि-जैसे रेती में रखा गया मछली का अंडा स्वयं बढ़ता है; उसीप्रकार स्वभाव की ओर झुका हुआ ज्ञान स्वयं बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान हो जाता है, ऐसा ज्ञान आनन्दकारी है, मुक्ति का सहकारी है और उसका उपदेश भगवान ने दिया है।

श्री अरिहन्त भगवान के धर्मोपदेश द्वारा भव्यजीवों को आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान पैदा होता है, जिसके प्रताप से आत्मा का अनुभव ऐसा यथार्थ झलक जाता है कि जो अंकुर का काम करता है। उस आत्मज्ञान के प्रभाव से ही ज्ञान बढ़ता जाता है। जैसे-दौज का चन्द्रमा नित्य बढ़ते-बढ़ते पूर्णमासी का चन्द्रमा हो जाता है, वैसे यही ज्ञान केवलज्ञानमय हो जाता है। (गाथा १०-११-१२ उपदेश शुद्धसार)। यहाँ मछली के अण्डे का दृष्टान्त दिया है, वह दृष्टान्त उन्होंने श्रावकाचार की ४०१ वीं गाथा में भी दिया है। सम्यग्दृष्टि का ज्ञान, ज्ञान के वेदन से स्वयं बढ़ता जाता है। परम आनन्द से परिपूर्ण सर्वज्ञस्वभाव अन्दर है, उसका उपदेश भगवान

देते हैं। उस स्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होते-होते केवलज्ञान होता है। ज्ञान की वृद्धि इन्द्रियों से अथवा राग से नहीं होती किन्तु स्वभाव के सम्यग्ज्ञान से ही ज्ञान की शुद्धि-वृद्धि होती है। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से ज्ञान स्वयमेव बढ़ता है और केवलज्ञान होता है। इसका नाम मोक्ष का मार्ग! और यही वीतराग भगवान का उपदेश!

काचली के दृष्टान्त से धर्मात्मा की दृष्टि को समझाया

श्रावकाचार की गाथा ४०० में मछली का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि जैसे मछली दृष्टि से ही अण्डे को सेती है, उसकी दृष्टि अण्डे के ऊपर रहती है, निरन्तर उसका ध्यान रहता है और इस प्रकार अण्डा बढ़ता है; उसी प्रकार धर्मात्मा ने पाँच इन्द्रियों की ओर से उपयोग हटा लिया है और अन्तर में शुद्ध बोधबीज स्वभाव के ऊपर सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टि को एकाग्र किया है, दृष्टि का केन्द्र शुद्धात्मा को बनाया है, ऐसी शुद्धदृष्टि के बल से उसका ज्ञान वृद्धिगत होता जाता है। इसके पूर्व ३९९वीं गाथा में भी कहा है कि अनेक प्रकार के पाठ पठन, अनेक प्रकार की दानादि क्रियायें, उनसे दर्शनशुद्धि नहीं होती और दर्शनशुद्धि के बिना समस्त क्रियायें व्यर्थ हैं। विशेषार्थ में लिखा है कि—‘मोक्षमार्ग तो निश्चय से एक अभेद शुद्धात्मा के अनुभवस्वरूप है, यही परमानन्द का कारण है। जब तक सम्यक्त्वी का उपयोग आत्मा के ध्यान में लगता है, तब तक वह आत्मा का ध्यान ही करता रहता है। जब उपयोग में निर्बलता हो जाती है, तब विषय-कषायों से बचने के लिये पूजा-दान-व्रतादि करता है, तथापि उसको बन्ध का कारण जानता है; निश्चयमोक्षमार्ग नहीं मानता।’ शुद्ध आत्मा के ऊपर दृष्टि होते हुये

भी धर्मी के लिये भगवान की पूजा-भक्ति आदि का शुभभाव आता है, परन्तु उसको वह मोक्षमार्ग नहीं मानता; पुण्यबन्ध का कारण जानता है। शुद्धात्मा के अनुभव के प्रताप से उसका ज्ञान बढ़ता जाता है—बाहरी जानकारी बढ़ने की यह बात नहीं किन्तु अन्तर में स्वभाव को पकड़ने की ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है। शास्त्रादि की जानकारी व्यवहार ज्ञान है; अपने स्वभाव की जानकारी परमार्थ ज्ञान है और उस स्वभाव के अवलम्बन से ही केवलज्ञान होता है।

देखो, 'श्रावकाचार' में श्रावक के लिये ऐसा ही उपदेश दिया है कि हे श्रावक! तेरा ज्ञान तो अन्दर से बढ़ता है, बाहर से नहीं आता। दृष्टि के प्रभाव से ज्ञान की वृद्धि होती है। जिस प्रकार मछली की दृष्टि अण्डे के ऊपर है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य ज्ञानस्वभाव के ऊपर है; जिनके आत्मा में सम्यग्दर्शन विद्यमान है, वे सम्यग्दृष्टिरूपी चक्षु द्वारा श्रुतज्ञानरूप अण्डे को पोषकर स्वयं केवलज्ञान प्रगट करते हैं। देखो, सम्यग्दृष्टि साधु को शास्त्र पढ़े बिना अन्तर से ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन के कारण बारह अङ्ग का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। पुस्तकों के पढ़ने से बारह अङ्ग का ज्ञान नहीं खिलता। पक्षी तो पंखों की उष्णता से अण्डा पोसते हैं, पर मछली बिना पंख केवल दृष्टि से अण्डा पोसती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव पंखों से पोसे बिना अर्थात् पढ़े बिना दृष्टि से ही अपने ज्ञानबीज को पोसते हैं। शुद्धात्मा में दृष्टि से भावश्रुत बढ़ता जाता है। बारह अङ्ग का ज्ञान बाहर से पढ़ाया नहीं जाता किन्तु वह तो अन्तर में ही खिलता है और वह भी जिसकी दृष्टि शुद्धात्मा के ऊपर होती है, उसको ही खिलता है। मिथ्यादृष्टि को बारह अङ्ग

का ज्ञान कभी नहीं खिलता। भले ही भक्ति-स्वाध्याय का शुभभाव हो, परन्तु उसका मूल्य क्या? यही कि पुण्यबन्ध हो जायेगा, किन्तु उससे मोक्षमार्ग नहीं मिलेगा। मोक्षमार्गरूप धर्म तो आत्मा के निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागपरिणाम हैं। श्री तारणस्वामी ने भी इसी बात पर ही जोर दिया है। लोग अपनी कल्पना से दूसरा मार्ग मानें तो वह मिथ्या है।

प्रत्येक आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। उस स्वभाव के ऊपर आस्था होने से ज्ञानप्रकाश बिना पढ़े ही खिलता जाता है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करावे, वही शुद्ध उपदेश है। बाहर से ज्ञान प्रगट होना बताये तो वह उपदेश शुद्ध नहीं। पढ़-पढ़ कर पण्डित बने परन्तु अन्तर का भान नहीं, ऐसी अन्तर्दृष्टि के बिना पण्डिताई बिना दाने का भूसा कूटने जैसी है।

**धर्मी के शुद्धात्मा में रंजित परिणामों से
ज्ञानसमुद्र उमड़ता है**

मछली का ध्यान निरन्तर अण्डा की ओर है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का ध्यान (दृष्टि का बल) निरन्तर स्वध्येय के ऊपर है, उसमें ही उसकी गाढ़ रुचि है, उससे निरन्तर उसका ज्ञान पोषित होता है। पक्षी तो पंखों से सेते हैं और मछली मात्र दृष्टि से सेती है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का परिणाम शुद्धात्मा में ही रंजायमान है; अपने शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से रंजायमान नहीं होता। दृष्टि शुद्धात्मा से ही रंगी हुई (रंजित) है, ऐसी अन्तर्दृष्टि से वह ज्ञान को सेता है, बिना पढ़े, बिना वांचे अन्तर की निर्विकल्प शुद्धदृष्टि से ही उसका ज्ञान बढ़ता रहता है। आत्मा का स्वसंवेदन

करते रहने से स्वरूपज्ञानशक्ति दिन-प्रतिदिन ज्ञानी की बढ़ती जाती है। ऐसे ज्ञान से ऐसी दृष्टिवाले असंख्यात तिर्यञ्च जीव पंचम गुणस्थान में विराज रहे हैं। नरक में और स्वर्ग में ऐसी दृष्टिवाले असंख्यात जीव चौथे गुणस्थान में हैं। तिर्यञ्च को शास्त्र की भाषा वांचते-लिखते या बोलते भले ही न आवे, परन्तु अन्तर में अपूर्व भावश्रुत से उसने शुद्धात्मा पकड़ लिया है, स्वज्ञेय को जान लिया है। परज्ञेय सम्बन्धी ज्ञान घटता-बढ़ता हो, यह पृथक् बात है, किन्तु स्वज्ञेय की पकड़रूप अचिन्त्य ज्ञानशक्ति ज्ञानी की बढ़ती ही जाती है।

देखो, केवलज्ञान होने के पश्चात् महावीर भगवान की वाणी राजगृही में विपुलाचल पर समवसरण में प्रथम बार निकली और गौतम गणधर ने उसे समझा, पश्चात् दो घड़ी में बारह अङ्ग की रचना की। लिखने-वांचने से बारह अङ्ग का पार नहीं मिलता। जिस प्रकार वर्तमान पढ़ाई में पुस्तकें रट-रटकर सीखते हैं, उस प्रकार द्वादशाङ्ग पुस्तकें वांच-वांचकर नहीं पढ़ा जा सकता; यह तो अन्तरात्मा से चैतन्यसागर उमड़े, तभी द्वादशाङ्ग का ज्ञान खिलता है।

अहा! अगाध चैतन्यसागर के समक्ष तो द्वादशाङ्ग का ज्ञान भी एक छोटी लहर जैसा है। उससे अनन्तगुनी शक्ति केवलज्ञान में है किन्तु यह ज्ञान बाहरी साधनों से नहीं होता। जिस प्रकार बाहर से पानी बहाकर समुद्र को नहीं भरा जा सकता किन्तु समुद्र स्वयं अपने मध्यबिन्दु से उमड़कर भरता है; उसी प्रकार चैतन्यसागर आत्मा में इन्द्रियों द्वारा अथवा राग के द्वारा ज्ञान का भराव नहीं लाया जा सकता, ज्ञान स्वयं अपने में एकाग्र होकर स्वयं के

मध्यबिन्दु से उमड़कर केवलज्ञान का भराव होता है अथवा सम्यग्दर्शनरूपी चन्द्रमा से श्रुत का सागर उमड़ता है।

जिस प्रकार सूर्य का तीव्र ताप भी समुद्र के भराव को नहीं रोक सकता; उसी प्रकार प्रतिकूलताओं का समूह भी ज्ञान के विकास को नहीं रोक सकता। शुद्धदृष्टि के बल से स्वयं, स्वयं में एकाग्र होकर जो ज्ञानसमुद्र उमड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता। आत्मा की शुद्धदृष्टि के अभाव में ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी एकाग्रता ज्ञान में नहीं होती, वह तो राग में एकाग्र होकर वर्तता है; इस प्रकार के बाहरी ज्ञान का मोक्षमार्ग में कोई मूल्य नहीं है। जो ज्ञान अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा को न साधे, उसका भला क्या मूल्य! उस ज्ञान को ज्ञान कौन कहे? शुद्धदृष्टि द्वारा ही ज्ञान का पार पाया जा सकता है और मोक्षमार्ग साधा जा सकता है। दर्शनविहीन जीव, तप आदि क्रियायें करते हुए भी (हिंडंति संसारे) संसार में ही भ्रमता है।

(श्रावकाचार गाथा ४०२)

●●● सिद्धपददायक शुद्ध उपदेश ●●●

अपने विमलस्वभावरूपी नौका द्वारा आत्मा स्वयं ही स्वयं को तारनेवाला है—ऐसा कहा है। आत्मा अपने विमलस्वभाव के द्वारा अनन्त चतुष्टयसहित सिद्धि की प्राप्ति करता है—ऐसा आगे कहते हैं।

इक्कं जिनसरुवं सयं खिपनं च कम्म बन्धानं
अनन्त चतुष्टय सहियं विमल सहावेन सिद्धि संपत्तं ॥

(उपदेश शुद्धसार ४९३)

आत्मा जिनस्वरूप है, अरिहन्त जैसा ही उसका स्वभाव है, ऐसे विमलस्वभाव के अवलम्बन से कर्मबन्ध का क्षय करके आत्मा स्वयं अनन्त चतुष्टयसहित सिद्धि सम्पदा प्राप्त करता है।

देखो, यह शुद्ध उपदेश! अहो! सिद्ध जैसा हमारा एक ही प्रकार का स्वभाव है, सिद्ध में और हममें कोई अन्तर नहीं, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'—ऐसा शुद्ध उपदेश भगवान ने दिया है—

'सर्व जीव छे सिद्ध सम... जे समजे ते थाय' (गुजराती)
(सर्व जीव सिद्ध समान हैं—जो समझता है, वही होता है।)

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम;

बीजुं कहीअे केटलुं ? कर विचार तो पाम। (श्रीमद् राजचन्द्र)

—ऐसे अपने शुद्धस्वरूप की प्रतीति करना भगवान के उपदेश का सार है। सिद्ध में जिस प्रकार राग आदि नहीं, उसी प्रकार मेरे स्वभाव में भी राग आदि नहीं। सिद्ध भगवान को स्वभाव के आश्रय से कर्मबन्धन छूटकर सिद्धदशा प्रगट हुई है; उसी प्रकार मुझे भी मेरे स्वभाव के आश्रय से सिद्धदशा होती है। यही सिद्धपद पाने की रीति है। ऐसे मार्ग का उपदेश करना ही सच्चा उपदेश है।

अज्ञानी जिनोपदेश को भूलकर जनरंजन में रुक जाते हैं

शुद्धस्वरूप दर्शानेवाले जिनोपदेश को भूलकर अज्ञानी जीव लोगों की अनुकूलता पाने के हेतु राग के पोषण का उपदेश देते हैं, यह तो जिनोपदेश से विरुद्ध ऐसी जनरंजन करनेवाली कथा है। जो जनरंजन के लिये की गयी हो, वह विकथा है। ऐसे उपदेश से लाभ माननेवाला जीव तो जिनद्रोही है, जिनशासन का शत्रु है। राग

को मोक्ष का साधन कहना, यह तो सम्यग्दर्शन से विरुद्ध विकथा जैसी है। यह बात इस उपदेश शुद्धसार, गाथा ९६-९७ में श्री तारण स्वामी ने लिखी है। राग से धर्म मानने में विकथा द्वारा जनरंजन करता है, उसको जिनेन्द्र भगवान ने 'जिनद्रोही' कहा है, वह जिनमार्ग का उपासक नहीं किन्तु द्रोह करनेवाला है और वह दुर्गति में पड़ता है।

विज्ञानघन ऐसा जो आत्मा, उसके ज्ञान से जो रहित है, वह जीव राग में ही रत रहता हुआ जनरंजन करता है, किन्तु आत्मरंजन अर्थात् आत्मा को किस प्रकार रंजायमान किया जाये, इसका उसको भान नहीं और जिनमार्ग के नाम पर विपरीत बात करते हैं, वे जिनमार्ग के द्रोही हैं, इसका फल तो नरकादि का घोर दुःख है। अतः इससे बचने के हेतु तू सिद्ध के समान अपने आत्मा को जान —ऐसा भगवान का उपदेश है। ●●

[१०]

दसवाँ प्रवचन

सर्वज्ञस्वभावी

आत्मा को जो साधे, वही साधक

[वीर सं० २४८९, भाद्रपद कृष्णा ११]

वीतराग का उपदेश वीतरागता के लिये ही है। बिना राग के मोक्षमार्ग का भगवान ने उपदेश किया है। स्ववीर्य से सिद्धपद सधता है, बीच में राग आवे तो वह जानने की वस्तु है किन्तु वह साधने की वस्तु नहीं। साधने की वस्तु तो वीतरागी ज्ञान-आनन्द ही है। ऐसा वीतरागी स्ववीर्य ही मोक्ष का साथी है। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित चारों अनुयोग में आत्मशुद्धि का ही तात्पर्य है। जिनदेव का उपदेश स्वानुभव करने के लिये है, लोकरंजन के लिये नहीं।

इस 'उपदेश शुद्धसार' की ४९३ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि सिद्ध-समान शुद्धस्वरूपी मेरा स्वरूप है—ऐसी निश्चय स्वरूप की दृष्टि करानेवाला उपदेश ही सारभूत उपदेश है।

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, उसे भव्य जीव साधते हैं। समय, अर्थात् ज्ञानरूप परिणमन करता आत्मा, 'ज्ञ-स्वरूप' आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वज्ञ को जैसा ज्ञान सामर्थ्य प्रगट हुआ, वैसा ही मेरे स्वभाव में है। ऐसा सर्वज्ञस्वरूप आत्मा का निर्णय करना

सर्वज्ञान का सार (ज्ञानसमुच्चयसार) है।

(देखो, ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ११२-११३-११४)

आत्मा ज्ञानस्वभावी है। ज्ञान क्या करता है ? तीन काल-तीन लोक को जानता है। ज्ञान से परिपूर्ण और राग-द्वेष से रहित, ज्ञान की अस्ति और राग की नास्ति—इस प्रकार अनेकान्त से आत्मस्वरूप का निर्णय होता है। ऐसा आत्मस्वरूप का निर्णय करके उसमें लीन होना ही मोक्षमार्ग है। बीच में रागादि व्यवहार आये किन्तु उस राग से ज्ञान की शुद्धता नहीं बढ़ती; ज्ञान की शुद्धि स्वयं के सर्वज्ञस्वभाव के आश्रय से ही बढ़ती है। ऐसा जानकर भव्य जीव-ज्ञानी जीव अन्तर में सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को साधते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ-स्वभाव को साधे, वही सच्चा साधक है।

सर्वज्ञस्वभाव को जानता हुआ राग से भिन्नतारूप भेदज्ञान होता है।

अपना स्वरूप सर्वज्ञस्वभावी है, इससे जो विरुद्ध है, अर्थात् सर्वज्ञस्वभाव को जो नहीं मानता और राग से लाभ मानता है, वह अज्ञानी जीव, आत्मज्ञानरहित है और उसकी समस्त शुभाशुभ क्रियायें अज्ञानमय हैं, मिथ्या हैं। एक ओर सर्वस्वभाव है और दूसरी ओर अज्ञान; सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति के बिना जो कुछ है वह सभी अज्ञान में जाता है, उसका फल संसार है। राग की एक कणी भी सर्वज्ञस्वभाव में समाने योग्य नहीं; राग का अंश भी आ मिले तो सर्वज्ञस्वभाव ही सिद्ध नहीं होता। अर्थात् जिसकी धर्मबुद्धि है, उसने राग के किसी अंश में भी सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को नहीं माना। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा को मानते हुये राग से भेदज्ञान हो ही जाता है।

वीतरागी शास्त्र तो सब प्रकार से ज्ञान और राग की भिन्नता बताते हुए भेदज्ञान कराते हैं। जिसमें शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं और राग के पोषण का प्रतिपादन है-ऐसे दुर्बुद्धि जीवों के कहे हुए आगम, मिथ्या-समय हैं। अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा के समान ही यह आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, स्वयं ही परमात्मा हो सकता है-ऐसा जो नहीं बतावे और सदा अधूरा, दास, दीन या पराधीन ही माने, राग से आत्मप्राप्ति होने को कहे, दूसरे की सेवा से मोक्ष होने को कहे, अर्थात् पराश्रयभाव को पोषे-तो वह जिनागम नहीं, सच्चा आगम नहीं; वह तो मिथ्यात्वपोषक पर-समय है, उसकी श्रद्धा छोड़ने का उपदेश है।

वीतराग का उपदेश वीतरागता के लिये ही है

अरे! वीतराग का कहा हुआ शुद्ध उपदेश कैसा होता है - उसकी जानकारी भी बहुतों को नहीं है और भगवान के उपदेश के नाम पर कितनी ही गड़बड़ी चल रही है। भगवान का उपदेश तो राग से विरक्ति और ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता कराता है और यही मोक्षमार्ग है। वीतराग का उपदेश तो वीतरागता के लिये ही होता है। कोई कहीं राग के पोषण का अभिप्राय रखे तो वह जीव, वीतरागता के उपदेश को समझा नहीं। भाई! अपने हित के लिये सच्चे आगम की प्रतीति करना चाहिए। हित के लिये कौन-सा उपदेश है और उसमें कौन-सा विरुद्ध उपदेश है, इसका विचार करके सच्चे-खोटे का निर्णय करना चाहिए। ऐसी अन्धी दौड़ से मोक्षमार्ग हाथ नहीं आता।

रागरहित मोक्षमार्ग... स्ववीर्य से सिद्धपद

मोक्षमार्ग कैसा है? कि जैसा सिद्ध स्वभाव है, मैं भी वैसा ही

हूँ। ऐसे निज स्वभाव को साधकर, उसकी श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से जीव सब कर्म-बन्धनों को काटकर मुक्त होता है। सच्चे ज्ञान के द्वारा ही मार्ग को साधा जा सकता है। सच्चे ज्ञानवाला जीव क्या करे? कि मोक्ष के अनायतन ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुधर्मों को छोड़े तथा उन कुदेवादि को माननेवाले मिथ्यामति जीवों का संग भी छोड़े और वीतरागी देव-गुरु-धर्म की प्रतीति कर, उनके द्वारा कहा हुआ वीतरागमार्ग का सेवन करे। वीतराग द्वारा कहे चार अनुयोगों का अभ्यास करना योग्य है। वे चार अनुयोग वीतरागता के ही पोषक हैं। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के भान बिना अज्ञान से जो रागक्रिया करता हुआ धर्म मानता है, उसमें केवल मिथ्याभाव का सेवन है अर्थात् केवल अधर्म है। ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप आत्मा जहाँ नहीं जाना, वहाँ धर्म कैसा? और सुख कैसा?

**स्ववीर्य से सिद्धपद... राग जानने की वस्तु है,
साधने की नहीं**

सिद्ध भगवान की तरह सर्वज्ञस्वभावी मेरा आत्मा है - ऐसा जानकर, साधक जीव स्वयं उस स्वभाव के साधन से ही सर्वज्ञ पद को साधता है। अनन्तु चतुष्टय प्रगट करनेवाला साधन अपना स्वभाव ही है; राग के साधन से वह सधता नहीं। राग जानने की वस्तु है, साधने की वस्तु नहीं। साधनेवाली वस्तु तो ज्ञानस्वभावी आत्मा है। साधक के वीर्य की गति अपने चिदानन्दस्वभाव की ओर है, स्वभाव की ओर के वीर्य से सिद्धि की प्राप्ति होती है, स्वभावसन्मुख शुद्धोपयोग के बल से आत्मा भव-समुद्र से तरकर अग्रलोक में पहुँचता है। इस प्रकार स्ववीर्य ही तारनेवाला है, अन्य

कोई तारनेवाला नहीं; अन्तरस्वभाव के पुरुषार्थ से अनन्त जीवों ने संसार से तिरकर सिद्धपद पाया है। ऐसा पुरुषार्थ ही स्ववीर्य है। पुण्य-पाप की ओर का वीर्य सच्चा स्व-वीर्य नहीं, उससे कोई जीव संसार से नहीं तिरा। शुद्धोपयोगरूप स्व-वीर्य से सिद्धि प्राप्त होती है; शरीर के बल से या राग के बल से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

‘उपदेश शुद्धसार’ गाथा ४९४ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि-

**वीर्यं च सिद्धं सिद्धं तारनतरनस्य अनुमोय सहकारं ।
हिम मित परिनययुक्तं कोमल सभाव ज्ञान सहकारं ॥**

सिद्ध भगवान स्वयं के वीर्य से सिद्धि पाये हैं। आत्मा का स्व-वीर्य ही तरणतारण है, वह स्वयं ही स्वयं को तारनेवाला है और सिद्धि को साधनेवाला स्व-वीर्य निजानन्द सहित है, हितकारी है, अनन्त ज्ञानपरिणमनसहित है और कोमलस्वभावरूप है, शान्त है। अन्य कोई तारणहार नहीं किन्तु आत्मा का स्वसन्मुख वीर्य ही तारणहार है। यह वीर्य सर्वदा ज्ञान-आनन्दसहित है।

देखो, यह तिरने का उपाय! वज्र शरीर हो, किन्तु वह परद्रव्य है, वह सिद्धि का साधन नहीं है। राग तो सिद्धि की प्राप्ति के समय होता ही नहीं; अतः वह सिद्धि का साधन नहीं है; वह तो उल्टा सिद्धि में बाधक है। सिद्धि का साधन तो अन्तर्मुखी स्ववीर्य है, वह आत्मवीर्य ही तारणहार है, वह वीर्य स्वयं में ज्ञान-आनन्द की रचना करनेवाला है, किन्तु अन्य को रचे या अन्य को तारे-ऐसा आत्मवीर्य का काम नहीं। वीतरागी देव-गुरु-वाणी तिरने में निमित्तरूप हैं तो भी वे स्व से भिन्न हैं, वह आत्मा के शुद्धोपयोग

की रचना के कर्ता नहीं। आत्मा स्वयं ही स्ववीर्य से शुद्धोपयोग की रचना करके सिद्धि पाता है।

मोक्ष जाने में साथी कौन ?

मोक्ष का कारणरूप यह जो स्व-वीर्य है, वह आनन्द का सहकारी है, राग का सहकारी नहीं; वह राग का तो नाशक है। ऐसा आत्मवीर्य आत्मा का हितकारी है, और अनन्त गुणों की निर्मलता की रचना करने में सहकारी है। देखो, यह मोक्ष का साथी ! मोक्ष जाने में साथी कौन ? कि तेरा आत्म-वीर्य, वही तेरा साथी है, वही तेरा संगी और सारथी है। स्व में लीन होकर अनन्त गुणों की निर्मलपर्याय को रचता है, किन्तु वह राग में लीन नहीं होता, राग को रचता नहीं। ऐसा कोमल-सहज-सीधा सरल वीर्य, केवलज्ञान की प्राप्ति का साधन है। ऐसे साधन से सिद्ध भगवन्तों ने सिद्धपद साधा है। राग-द्वेष तो कठोर है और यह वीतरागी स्ववीर्य कोमल स्वभावी है, केवलज्ञान का साथी होकर वह आत्मा को भवसागर से तार लेता है, उससे स्वयं तरण-तारण है। ऐसे स्ववीर्य के बल से आत्मा सदा आनन्द में लीन रहता है और सदाकाल विश्व को जानता है तो भी उसको थकान नहीं आती, सदाकाल अपने केवलज्ञानादि स्वभाव में रमता रहता है, ऐसी वीर्यगुण की सामर्थ्य है।

इस प्रकार ज्ञान और आनन्द की श्रद्धा-चारित्र आदि जैसे सर्व गुणों के परिणमन में वीर्य का सहकारीपन है किन्तु एक भी गुण के निर्मल परिणमन में राग का सहकारीपन नहीं है। अनन्त काल तक केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूप से परिणमन करता है तो भी आत्मा का वीर्य ऐसे बलवाला है कि वह किञ्चित् भी थकता नहीं,

सर्वदा स्फूर्तिवान रहता है। एक समय में अनन्त स्वगुणों की निर्मल पर्यायों को रचता है, ऐसा बल आत्मवीर्य में है। राग में ऐसा बल नहीं है। इस प्रकार राग और स्ववीर्य भिन्न है।

अहो! जैनतत्त्व अलौकिक है, इसके सूक्ष्म नयाय समझने में अपूर्व भेदज्ञान होता है। यह कोई साधारण बात नहीं, यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहन्तदेव द्वारा जाने हुए और कहे हुए तत्त्व हैं।

जैनधर्म के चार अनुयोगों में आत्मशुद्धि का ही तात्पर्य है

श्रावकाचार में गाथा ३४७ से ३५७ तक आत्महित के हेतु शास्त्र के चार अनुयोगों का अभ्यास करने को कहा है। शुद्धदृष्टि के उद्यमपूर्वक गृहस्थ-श्रावकों को चार अनुयोगों का अभ्यास करना चाहिए।

प्रथम, कथानुयोग में चौबीस तीर्थंकरों का तथा गणधरादि महापुरुषों का जीवन है, उससे जीवन में अधर्म की रुचि छूटती है और धर्म की रुचि बढ़ती है-ऐसी कथाओं द्वारा उपदेश दिया है।

द्रव्यानुयोग में छह द्रव्यों का स्वरूप बताते हुए शुद्धात्मा की महिमा बताई है, उसके अनुभव की रीति बताई है, निश्चय-व्यवहार दोनों बताते हुये निश्चय स्वरूप में आरूढ़ होने को कहा है।

भगवान की वाणी में चार अनुयोग आये हैं। जिसको चार अनुयोगों में से किसी की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि नहीं। पण्डित टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के आठवें अध्याय में चार अनुयोगों के उपदेश सम्बन्धी सरल स्पष्टीकरण किया है।

चार अनुयोग शाश्वत हैं, अर्थात् जिस प्रकार जगत में छह

द्रव्य सदा सर्वदा हैं, तीर्थकरादि महापुरुषों की सर्वदा परम्परा चलती रहती है, लोकरचना शाश्वत है; उसी प्रकार उसका वर्णन करनेवाले शास्त्रों की परम्परा भी जगत में अनादि से चली आयी है। जिस प्रकार तीर्थकर सदाकाल से होते आये हैं; उसी प्रकार उनकी कथायें भी सदाकाल की परम्परा से चली आती हैं। तीर्थकरादि के नाम आदि तो बदलते हैं, परन्तु उनकी कथायें तो चलती हैं।

इसी रीति से तीन लोक की रचना, उसमें महा विदेहक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप आदि असंख्यात द्वीप-समुद्र की तथा स्वर्ग-नरक की शाश्वत रचना है, उसका वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि करणानुयोग में आता है। जिस प्रकार वे वस्तुयें शाश्वत हैं, उसी प्रकार उनका वर्णन करनेवाले शास्त्र भी सदाकाल से होते हैं और उनका ज्ञान करनेवाले जीव भी सदाकाल से होते हैं। (अर्थसमय, शब्दसमय, और ज्ञानसमय तीनों की सन्धि है) विद्वानों को, वस्तुस्वरूप बतानेवाले ऐसे चार अनुयोगों का आत्महितार्थ अभ्यास करना चाहिए, उसका नाम ज्ञानपूजा है। चार अनुयोगों के अभ्यास द्वारा वस्तुस्वरूप समझकर शुद्धात्मा का ध्यान करना उपदेश का सार है। करणानुयोग द्वारा भी स्वात्म-चिन्तन करके स्व-स्वरूप ही आराध्य है। षट्खण्डागम आदि करणानुयोग में जीव के सूक्ष्म परिणाम बताये हैं, उन सूक्ष्म परिणामों के ज्ञान द्वारा अपने परिणाम शान्त करते हुए वीतरागस्वरूप में रमणतारूप होना—यह करणानुयोग के अभ्यास का सच्चा फल है। चार अनुयोगों का फल वीतरागता ही है। जैनशास्त्र वीतरागता को ही पोसते हैं, अर्थात् आत्मा का

शुद्ध स्वरूप बताते हुए उसकी दृष्टि और उसमें एकाग्रता का ही उपदेश देते हैं, यही शुद्ध उपदेश का सार है।

देखो, शास्त्रों का अभ्यास किस लक्ष्य के लिये करना, यह भी इसमें आया है। पण्डिताई के मान हेतु नहीं किन्तु स्वयं के ज्ञान प्रयोजन की सिद्धि के लिये चार अनुयोग का अभ्यास करना चाहिए। उसमें से स्व-स्वरूप की आराधना, वह चार अनुयोग का सार है। वीतरागस्वरूप में उपयोग को जोड़ने से ही (शुद्धोपयोग से ही) सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं। इसके अतिरिक्त बाहर के साधनों के जोड़ने से अथवा राग से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। अपने अन्तरस्वभाव-समुद्र में डुबकी लगाने से सम्यग्दर्शन और परम आनन्द की अनुभूति होती है, वही आत्मा का निश्चय पद है और ज्ञानी द्वारा स्वसंवेद्य है। इसके अतिरिक्त बाहर में-राग में गोता लगाने से कुछ भी हाथ नहीं आता।

वीतरागी करणानुयोग में सर्वज्ञदेव ने सूक्ष्म परिणामों की तथा तीन लोक की रचना का वर्णन किया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। इस प्रकार करणानुयोग द्वारा भी निःशंक होकर मिथ्यात्वादि शल्य छोड़ना। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की प्रतीति कर, मिथ्यात्वादि शल्य छोड़कर, यथार्थ वस्तुस्वरूप जानना चाहिए। शुद्धदृष्टि, द्रव्यदृष्टि आत्मा के पूर्ण स्वरूप को देखनेवाली है और उससे ही शुद्ध सम्यग्दर्शन का लाभ होता है। ऐसे शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में रखकर चार अनुयोगों का चिन्तन करना चाहिए। शुद्धदृष्टि के बिना शास्त्रों का सच्चा रहस्य समझ में नहीं आता है।

चार अनुयोगों का अभ्यास करने को कहा है परन्तु उस प्रकार

की बुद्धि की मन्दता आदि कारण से कदाचित् उसका अभ्यास नहीं हो सकता, तो उसका निषेध न करे किन्तु आदर करे, क्योंकि चार अनुयोग वीतरागी जिनवाणी है, उसकी अरुचि करना जिनवाणी की ही अरुचि है। यहाँ तो उसके अभ्यास करने में शुद्धात्म-चिन्तन की मुख्यता है। यह मुख्य बात है। चार अनुयोगों को पढ़-पढ़के फल क्या निकलेगा? कि शुद्धात्मा से सन्मुखता करना। यदि शुद्धात्मा में सन्मुखता नहीं की तो शास्त्र-अभ्यास का यथोचित फल नहीं आया, अर्थात् वह सचमुच शास्त्र पढ़ा ही नहीं, उसने तो अपनी कल्पना से राग ही पोषा है।

यहाँ कहते हैं कि चरणानुयोग द्वारा भी भगवान ने चैतन्यस्वभाव का अनुभव करना ही बताया है। राग और राग की क्रियाओं का (अणुव्रत-महाव्रतादि का) ज्ञान भले ही कराया, परन्तु मोक्ष के लिये तो उस राग के आचरण से भिन्न ऐसे चैतन्यस्वभाव का ही अनुभव करने का आदेश दिया है। ऐसे बिना अनुभव के चरणानुयोग सच्चा नहीं होता।

श्रावक के अथवा मुनि के अन्दर शुद्धात्मा की दृष्टिसहित भूमिका के प्रमाण में रागादि होते हैं, किन्तु राग में धर्मबुद्धि नहीं होती, राग में कर्तृत्वबुद्धिरूप एकताबुद्धि नहीं होती। जिसकी राग में ही एकताबुद्धि है, वह राग में ही धर्म समझ लेता है, उसको रागरहित के आचरण धर्मी को कैसा होता है, उसका भान नहीं अर्थात् धर्मी के चरणानुयोग को वह पहिचानता नहीं।

ग्रन्थाधिराज समयसार

इस प्रकार द्रव्यानुयोग, उसमें भी द्रव्य-गुण-पर्यायों के वर्णन

द्वारा जीव-अजीव की भिन्नता समझाते हुए शुद्धात्मा की दृष्टि कराई है, उसका अभ्यास करना-किन्तु किस प्रकार?-कि स्वलक्ष्य से अभ्यास करना।

देखो, यह श्रावक के लिये उपदेश है, यानी समयसार आदि द्रव्यानुयोग का अभ्यास श्रावकों को भी होता है। द्रव्यानुयोग केवल मुनियों के लिये ही नहीं है। अनादि के अप्रतिबुद्ध जो कि, देह को ही आत्मा मानते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टियों को समयसार द्वारा समझाया गया है। चार अनुयोगों में द्रव्यानुयोग स्वानुभव के हेतु मुख्य है और उसमें भी इस काल समयसार मुख्य है। उसका अभ्यास सबको करना चाहिए।

**जिनोपदेश स्वानुभव करने के हेतु है,
लोकरंजन के लिये नहीं**

स्वानुभव करानेवाला जो जिनोपदेश है, उसमें किञ्चित् भी शंका नहीं करना चाहिए। जिसकी मिथ्यात्व शल्य नहीं मिटी, राग की रुचि नहीं गयी, वह जीव, जिनेन्द्र के उपदेश में शंका करता है। राग का अवलम्बन छोड़नेवाला जिनोपदेश अज्ञानी को रुचता नहीं क्योंकि उसको राग की मिठास है। अनन्त जीव, अनन्त परमाणु, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय आदि को जानते हुए चिदानन्द-स्वभाव की रुचि करना और राग की रुचि छोड़ना, ऐसा जो वीतरागी उपदेश, उसमें अज्ञानी शंका करता है। जिनवचन में शंका करनेवाला जीव, मिथ्यात्व-शल्य के कारण संसार में भ्रमता है। उसको अपने में राग की रुचि की शल्य है; अतः वीतरागी जिनवचन उसको रुचता नहीं और राग से धर्म माननेवाले कुगुरुओं

की शरण लेकर वह जीव संसार-समुद्र में डूबता है। जिनरञ्जन छोड़कर वह जनरञ्जन में लगा है। जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित वीतरागस्वभाव का रंग छोड़कर वह राग के रंग में रँगा है; अतः राग में धर्म मनानेवाले कुगुरु के वचन उसे मीठे लगते हैं। समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि भाई! परमत के राग पोषक वचन भले ही तुझे कोमल और मीठे लगते हों, परन्तु उनमें कोई निजगुण की प्राप्ति नहीं। निजगुण जो सम्यग्दर्शन आदि अमृत है, उससे तो वे रहित ही हैं और वे मिथ्यात्वरूपी विष के पोषक हैं; वीतराग के वचन ही आत्मगुण की प्राप्ति करानेवाले हैं।

‘वचनामृत वीतरागनां परम शान्तरस मूल’

—श्रीमद् राजचंद्र

राग से धर्म माने, यह तो सभी लोकरञ्जन की रीति है। वीतराग देव का उपदेश तो आत्मरञ्जन के हेतु (आत्मा का अनुभव करने के लिये) है, यह कोई लोकरञ्जन के लिये नहीं है। लोग मानें या न मानें किन्तु वीतराग का कोई उपदेश बदलता नहीं है। जगत में अनन्त आत्मा हैं, प्रत्येक भिन्न स्वतन्त्र है और अनन्त आत्मा सिद्ध हुए हैं, सिद्ध भगवान जैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है, ऐसा द्रव्यानुयोग के शास्त्र दर्शाते हैं। अत्यन्त आदरपूर्वक ऐसे शास्त्रों का चिन्तन करना चाहिए।

एक ‘जिनोक्त’ और दूसरा ‘जनोक्त’ ऐसे दो मार्ग हैं। जिनोक्त मार्ग तो वीतराग है और जनोक्त ऐसे लौकिक मार्ग में बाहर से धर्म मानकर उसमें बहुत लोग लग जाते हैं। इसमें कोई राजा या प्रधान जैसा व्यक्ति आवे तो लोगों की टोली भेड़िया धसान की तरह

उसके साथ दौड़ जाती हैं; जैसे भेड़ों का झुण्ड बिना विचारे एक के पीछे दूसरा चला जाता है, वैसे ही लोकजन अपने हित का कोई भी विचार किये बिना कुमार्ग में चले जाते हैं। अरे, यह तो 'जनरञ्जन' है, इसमें 'जिनरञ्जन' नहीं है।

जिसको आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञात नहीं, भेदज्ञान की जानकारी नहीं, वह वीतराग-मार्ग को भूलकर अज्ञान का अनुमोदन करता है। अज्ञानियों में बाहर का त्याग आदि देखकर उनमें उसकी आस्था आ जाती है किन्तु उसमें आत्मा का कोई हित नहीं है। यह तो जनरंजन का मार्ग है, इससे लोग कदाचित् राजी हो जायें, किन्तु तेरे स्वयं का आत्मा इससे प्रसन्न नहीं होगा। पर को सुखी कर दूँगा, पर का उद्धार कर दूँगा, देश को स्वतन्त्र कर दूँगा, पृथ्वी के ऊपर स्वर्ग जैसा सुख उतार दूँगा - ऐसी बातें जगत को अच्छी लगती हैं, किन्तु भाई! इसमें तो तेरा किञ्चित् हित नहीं है। पर की कर्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व का विष इसमें भरा है, यह तो जीव का अहित करनेवाला है।

सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप वीतराग है, अमृत की भाँति वह जीव का परम हित करनेवाला है। ऐसे जिनोक्त शुद्ध तत्त्व को जो नहीं साधता, वह सदा अव्रती एवं मिथ्यात्वी ही है; अतः श्री तारणस्वामी कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा के कल्याण के लिये ऐसे जिनोक्त मार्ग की प्रतीति कर, शुद्ध तत्त्व को लक्ष्य में ले। ●●

[११]

ग्यारहवाँ प्रवचन

**‘मैं पायो जिनवर अपनो’
सम्यक्त्व परम सुख, मिथ्यात्व महा दुःख**

[वीर सं. २४८९, भाद्रपद कृष्णा १२]

भगवान के द्वारा कहे उपदेश में मोक्षमार्ग क्या है—उसका वर्णन चलता है। शुद्ध आत्मा की दृष्टि मोक्षमार्ग का मूल है, ऐसी दृष्टि के द्वारा सिद्ध भगवानों ने सिद्धि प्राप्त की है। यहाँ उपदेश शुद्धसार की ४९५ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

**सिद्धं च सव्व सिद्धं सिद्धं अंगं च दिगन्तरं सिद्धं।
सिद्धं अर्थति अर्थ सामर्थ्यं समय दृष्टि अनुमोयं ॥**

भावार्थ ऐसा है कि बारह अंग (द्वादशांग) रूप जिनवाणी का साररूप जो शुद्ध आत्मा है, उसकी दृष्टि द्वारा सभी सिद्ध भगवानों ने सिद्धि प्राप्त की है। द्वादशांग के साररूप शुद्ध आत्मा को ध्येय बनाने से ही वह परमात्मा हुए हैं। आत्मा में गुप्त स्वभावरूप से (शक्तिरूप से) जो परमात्मपना था, उसका भान और ध्यान करते हुए वह परमात्मपना प्रगट हुआ, मोक्षदशा प्रगटी। इस प्रकार परमात्मशक्ति से भरे हुए अपने आत्मा का ध्यान करना, वह भगवान के उपदेश का सार है, वही मोक्षमार्ग है।

—आत्मा के गुप्त स्वभाव के साथ मिलना मोक्षमार्ग है—

आत्मा के स्वभाव में गुप्त अर्क है, अर्क यानी सूर्य, चैतन्य—

सूर्य केवलज्ञानस्वभाव से भरपूर है, उसकी सन्मुख परिणति से, गुप्त आत्मा के साथ मेल कर-करके मोक्ष सधता है। अहो! ऐसे मोक्ष का प्रकाश करनेवाले जिनेन्द्र की जय हो। अनन्त शक्तिरूप-चैतन्य-चमत्कार से भरे हुए अपने गुप्त स्वभाव के साथ मिलन करते हुए (उसमें एकाग्र होते हुए) जिनपद का प्रकाश होता है, अर्थात् केवलज्ञान प्रगटता है। संयोग के साथ, राग के साथ, पुण्य के साथ मिलान करते हुए ज्ञान-प्रकाश होता नहीं है। राग के साथ मेल किया जाय तो कर्म-विजयी नहीं होता। राग के साथ सन्धि तोड़कर जिसने अपने स्वभाव के साथ उपयोग की सन्धि जोड़ी, वही कर्म-विजयी है। उसका स्वभाव के साथ मेल, मिलन है और रागादि परभावों के साथ कुमेल है, भिन्नता है। इस भाँति गुप्त आत्मस्वभाव के साथ मिलन करते हुए मोक्षमार्ग होता है।

देखो, यह मोक्ष का मार्ग! अपना स्वरूप गुप्त शक्ति से भरा है, वह निश्चय है, उसके आश्रय से ही जीव पूर्ण सिद्धि को पाता है। द्वादशांग के ध्येयरूप अपने चैतन्यस्वभाव में मिलने से सिद्धपद होता है। द्वादशांगरूप सब शास्त्रों का तात्पर्य क्या? यह कि अपने स्वभाव के साथ मिलन करना। स्वभाव में एकता से वीतरागता होती है; वीतरागता से मोक्ष होता है। स्वभाव की ओर मुड़ना, यही भवरोग मिटाने की औषधि है। हे भव्य! तू भय का क्षय कर और ऐसे आनन्द-कमल जिनस्वरूप में रमण करके आनन्दित हो, सिद्ध स्वरूप में रमण करके आनन्दित हो।

भवियण भय खिपिय रमन जिनु रमिजे,
नन्द आनन्द-कमल रमन जिनु।

**रमन विंद सिद्ध रमिजे,
भवियण भय खिपिय रमन जिनु रमिजे ।**

(ममलपाहुड भाग-२, पृष्ठ २८७)

उपदेश का सार वीतरागता

ज्ञान समुच्चयसार, गाथा ५५-५६ में कहते हैं कि अनन्त विचित्र तरंगों से उल्लसित होते द्वादशांग श्रुत-समुद्र में जिनेन्द्र भगवान ने शुद्ध आत्मतत्त्व ही प्रयोजनभूत कहा है। शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव ही द्वादशांगरूप वाणी का सार है। शास्त्रों में कथन तो बहुत किये हैं, स्वर्ग-नरकादि गति, उनके कारण, छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि के जो कथन हैं, उन सबमें उत्कृष्ट साररूप और प्रयोजनरूप तो अपने शुद्धात्मा के आश्रय से वीतरागता प्रगटे यही है। अन्य सब जाननेयोग्य भले हों, परन्तु उनके आश्रय से वीतरागता नहीं होती; अतः शुद्ध आत्मा के आश्रय का उपदेश ही शुद्ध उपदेश है। रागादि के आश्रय से मोक्ष होना माने, वह शुद्ध उपदेश नहीं है, अर्थात् सच्चा उपदेश नहीं है।

भगवान के उपदेश का सार क्या है ? कि वीतरागता; वीतराग-भाव का उपदेश, अर्थात् ज्ञायकस्वभाव के आश्रय का उपदेश, क्योंकि वीतरागता में शुद्ध स्वभाव का ही उपदेश है।

**महावीर भगवान के समवसरण में श्रेणिक,
भावी प्रथम तीर्थकर पद्मनाभ**

राजगृही में भगवान महावीर ने ऐसा उपदेश दिया और राजा श्रेणिक आदि ने सुना कि परमात्मपने की दिव्य विभूति आत्मा में ही है और ऐसा जानकर आनन्दित हुए। ममलपाहुड पृष्ठ १५-१७

में उसका सरस वर्णन किया है :—

**जिनु आपने रंग मन्दिर में रे कोउ उवन जिनस्वामी
कमल कर्न हंसि पूछन लागे जन काहे अकुलाने..**

प्रथम तो कहते हैं कि श्री जिनेन्द्र भगवान को अपने रंग-मण्डप में कोई अद्भुत पद प्रगट हुआ है... अपने आत्मघर में ही अद्भुत केवलज्ञान-निधान प्रगटा है। तीर्थकर भगवान को ऐसा केवलज्ञान हुआ और तीन लोक में आनन्द हुआ... ऐसा मोक्ष का साधक भव्य जीवरूपी कमल प्रफुल्लित हुआ... प्रसन्न होकर पूछने लगे कि जनसमुदाय में हलचल किस कारण है? यह हर्ष का कोलाहल कैसा है? उत्तर मिला कि केवली भगवान श्री महावीर तीर्थकर का शुभागमन हुआ है।

समवसरण में भगवान महावीर को देखकर राजा श्रेणिक को अत्यन्त प्रीति हुई, परन्तु भगवान महावीर को तो किसी के ऊपर राग नहीं था, वे तो वीतराग थे और वीतरागता का ही उपदेश देनेवाले थे। श्री भगवान महावीर की वाणी में ऐसा आया कि राजा श्रेणिक के भीतर आगामी प्रथम तीर्थकर पद्मनाभ होने योग्य भाव जाग उठा है, तब राजा श्रेणिक ऐसा सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और आगे राजा श्रेणिक को केवली भगवान से कुछ माँगने की इच्छा नहीं रही। अहो, मेरे हृदय में ही मेरा परमात्मपद विराजता है, पद्मनाभ तीर्थकर मेरे अन्तर में विराजे हैं—ऐसा उनको भान था, क्षायिक सम्यक्त्व था, वीतरागभाव की किरण का प्रकाश आत्मा में प्रगट हो चुका था। अन्य कोई व्रत-चारित्र नहीं था परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शन के बल से एक भव के पश्चात् केवलज्ञान प्रगट कर

तीर्थकर होंगे। वाह ! राजा श्रेणिक के अन्तर में पद्मनाभ तीर्थकर बैठे हैं ! भविष्य की पर्याय आत्मा के गर्भ में पड़ी है। भविष्य में कोई पर्याय बाहर से नहीं आती, आत्मा ही अपनी शक्ति से उस पर्यायरूप परिणमन करेगा। भविष्य की तेरी अनन्तानन्त परमात्मदशा अनन्त केवलज्ञान और सिद्धपद, यह तेरे आत्मा के भण्डार में भरे हैं। ऐसे स्वभाव की प्रतीति में से अपना परमात्मपद अपने में पा लिया, तत्पश्चात् बाहर से माँगने को क्या रहा ?

‘मैं पायो जिनवर आपनो... मैं पायो स्वामी आपनो।’

तरण-तारण जैसे मेरे जिनवर को मैंने प्राप्त कर लिया। इन्द्र को अथवा इन्द्रभूति गणधर को तथा राजा श्रेणिक आदि को भगवान महावीर ने जो धर्म का उपदेश दिया था, वही धर्म मेरे आत्मा में है - ऐसा धर्मी ने जाना है। पारिणामिकस्वभाव में पूर्ण शक्ति है, उसको पर्याय में प्रगट करके आत्मा अनन्त आनन्द में मग्न हुआ और परमात्म पद साधा, उसमें द्वादशांग का ध्येय समा जाता है।

आत्मा के पोषण हेतु राग की आवश्यकता नहीं

राग की उत्पत्ति या संयोग की प्राप्ति शास्त्र का सार नहीं, वह जीव का प्रयोजन नहीं किन्तु अन्तर के स्वभाव को ध्येय करके वीतरागभाव प्रगट करना सारभूत है, यह प्रयोजन है। बिना राग आत्मा मर नहीं जाता, राग को छोड़कर भी आत्मा अपने सच्चे आनन्दमय जीवन सहित जीवित रहेगा। आत्मा के जीवित रहने में किसी राग की आवश्यकता नहीं। राग, आत्मा का सच्चा प्राण नहीं; चैतन्यभाव ही आत्मा का सच्चा प्राण है, वही सच्चा जीवन है। ऐसे आत्मा को जानकर, उसकी साधना करते हुए पूर्ण आनन्दरूप

मोक्ष प्रगटे, यह उसका फल है, पुण्यबन्ध हो और स्वर्ग मिले, यह कोई उसका वास्तविक फल नहीं। मोक्षमार्ग के फल से स्वर्ग नहीं मिलता, मोक्ष मिलता है। स्वर्ग मिले तो वह बन्ध का-राग का फल है। बन्ध-मोक्ष के सच्चे कारण की जीवों को जानकारी नहीं है और मोक्षमार्ग के नाम पर भ्रान्ति में पड़कर राग को ही धर्म मान लेते हैं।

धर्मी जीवों का आदर्श

धर्मी कहता है कि हे भगवान! मैं तो आपको (अर्थात् शुद्ध आत्मा को) आदर्शरूप देखकर मोक्षमार्ग को साध रहा हूँ। राग मेरा आदर्श नहीं है; आपकी भाँति शुद्धता हो, वही मेरा आदर्श है। सब पदार्थों में प्रयोजनभूत सिद्धपद आपने प्राप्त कर लिया है और मैं भी आपके बताये मार्ग की ही साधना कर रहा हूँ... अनुमोदन कर रहा हूँ, आनन्दपूर्वक उसका अनुसरण कर रहा हूँ। (अनुमोदन अर्थात् आनन्दसहित अनुसरण, ऐसा अर्थ किया है।) परम आनन्दस्वभाव का प्रमोदपूर्वक अनुसरण करने से अतीन्द्रिय आनन्दरूप मोक्ष प्रगट होता है। सिद्ध भगवानों ने रत्नत्रय धर्म का सार प्राप्त कर लिया है और तीर्थंकर भगवान समवसरण में उसका ही उपदेश देते हैं। हे जीव! तुम भी सम्यक्त्वादि का साधन करो और मिथ्याभावों को छोड़ो। मिथ्यात्व परम दुःख है और सम्यक्त्व परम सुख है।

मिथ्यात्वं परमं दुखं सम्यक्त्वं परमं सुखं।

तत्र मिथ्यामतं त्यक्त्वा शुद्ध सम्यक्त्व सार्द्धं यः॥

(श्रावकाचार गाथा-२९६)

महान दुःख के कारणरूप मिथ्यात्व को छोड़कर परम सुख के

कारणरूप शुद्ध सम्यक्त्व को, हे जीव ! तू अपना साथी बना । मोक्ष जाने में सम्यग्दर्शन ही तेरा साथी है ।

कौन दुःखी ?-कौन सुखी ?

बाह्य संयोग को दुःख का कारण नहीं कहा, किन्तु भीतर का मिथ्यात्व ही महा दुःखदायक है । मिथ्यात्वसहित जीव त्यागी हो जाय तो भी दुःखी ही है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारी मुनिवर और धर्मात्मा परम सुखी हैं । परम आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण परमात्मा जिसकी दृष्टि में नहीं आया, वह दुःखी ही है; और परमानन्द-स्वभाव में जिसकी दृष्टि पड़ी है, वह सुखी है । बिना धन के दुःख और धन से सुख, ऐसा नहीं है । मिथ्यात्व से दुःख और सम्यक्त्व से सुख, यह सिद्धान्त है । अतएव हे जीव ! सम्यक्त्वादि का साधन करो और मिथ्यात्वादि को छोड़ो !

प्रगट में पाप के उदय से कदाचित् प्रतिकूल संयोग हों, नरक में हो या तिर्यच में हो, रहने के लिये गृह आदि न हो, परन्तु भीतर से जिसकी दृष्टि राग से भिन्न चिदानन्द परिपूर्ण स्वभाव में ही हो, वह जीव परम सुखी है । संयोग में तो मैं हूँ ही नहीं, तो संयोग का दुःख मुझे कैसा ? और स्वभाव का जिनको भान नहीं और राग से मूर्छित हो गये हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव, देवलोक में भी दुःखी ही हैं, उनको संयोग क्या सुख दे सकते हैं ? अस्तु हे जीव ! तू मिथ्यात्व को दुःख का कारण जानकर उसे छोड़ और सम्यक्त्व के परम सुख का मूल जान उसको अपना साथी बना ।

बड़ी भक्ति से शुद्धात्मा की उपासना-यही जिनवाणी की विनय

जहाँ शुद्धात्मा के ऊपर दृष्टि होती है, वहाँ ही सामायिक आदि

षट्कर्म यथार्थ होते हैं, अथवा श्रावक के षट्कर्म (देवपूजा, गुरुपास्ति आदि) भी शुद्धदृष्टिपूर्वक ही यथार्थ होते हैं। वीतरागी देव-गुरु कैसे हैं और उनसे क्या कहा है, उसके परिचय के बिना सच्ची उपासना कहाँ से हो? (यह बात श्री तारणस्वामी ने श्रावकाचार गाथा ३२०-३२१-३२२ में की है, और अष्ट प्रवचन प्रथम भाग में उसका विवेचन आ गया है। जिज्ञासुओं को यह प्रकरण वहाँ से देखना चाहिए।)

बड़ी भक्तिपूर्वक शुद्धात्मा की आराधना करना, जिनवाणी की सच्ची विनय है। यह बात ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ६५ में कही है, उसका विवेचन (अष्ट प्रवचन भाग १ में देखें) जिनवाणी को मस्तक के ऊपर विराजमान करके अत्यन्त आदर करे, परन्तु उसमें क्या कहा है, वह समझे नहीं तो उसका वास्तविक लाभ कहाँ से हो? वस्तु के यथार्थ स्वरूप को पहिचानना चाहिए, तो ही सम्यग्ज्ञान का लाभ होता है।

ध्येय बिना? - ध्यान किसका?

उपयोग में शुद्धात्मा को धारण करना धर्म

अनन्त गुणस्वरूप आत्मा अपने आप में ध्यान से अनुभव में आता है—

ध्यान वडे अभ्यंतरे देखे जे अशरीर,
शरमजनक जन्मो टळे पीये न जननी क्षीर ॥

(योगसार)

अज्ञान से इस शरीर का भार धारण करते-करते चारों गतियों में भ्रमते रहना लज्जाप्रद है। अन्तर में देह से भिन्न अशरीरी चैतन्य

को देखने से लज्जाप्रद जन्मों का निवारण हो जाता है। पश्चात् उसकी अन्य माता नहीं होती। उत्कृष्ट शुक्लध्यान यहाँ अभी नहीं है, परन्तु धर्मध्यान तो है! ध्यान किसका करना है – उस ध्येय को तो पहिचानो! ध्येय जिसका खोटा हो, उसे सच्चा ज्ञान कहाँ से होगा? अनन्त पदार्थों के मध्य में रहते हुए भी सबसे पृथक् और अपने अनन्त गुण-पर्यायों के साथ परस्पर एकमेक, ऐसा आत्मा ध्यान के द्वारा अनुभव में आता है, यही धर्मी का ध्येय है। जिन भगवान के शासन के अतिरिक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं नहीं है। अनन्त आत्मा, प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र अपने में पूर्ण, उसमें अनन्त गुण, अनन्त पर्याय, प्रत्येक पर्याय में अनन्त अविभाग –प्रतिच्छेद—ऐसा आत्मा धर्मी के अनुभव में आया है। ऐसा अनुभव किस प्रकार होता है? कि 'स्वयं अपने स्वभावसन्मुख ज्ञान से ऐसा आत्मा अनुभव में आता है, कोई विकल्प का उसमें आश्रय नहीं। अज्ञानी ऐसे आत्मा को प्रतीति में-अनुभव में लेता नहीं। धर्मी ने अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने ध्रुव आत्मधाम में शुद्ध आत्मा की स्थापना की है, परभावों से पीछे मुड़कर स्वसन्मुख उपयोग में आत्मा को रखा, उसका नाम धर्म है। पहले अज्ञानपन से उपयोग में परभावों को धारण किया, उसके बदले अब भेदज्ञान करके, परभावों से उपयोग को पृथक् जानकर, उपयोग में शुद्ध आत्मा को धारण किया, यही धर्म है। धर्म कहो या आत्मा की शुद्धि कहो। आत्मा की शुद्धि हेतु तीर्थकरों का अवतार है अर्थात् वह धर्म-अवतार है। जिसमें धर्म का अवतार, धर्म की उत्पत्ति होती है, वही सच्चा धर्म-अवतार है।

ज्ञानी जीव धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों में परपदार्थों से विमुख होकर एक अपने शुद्ध आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं, यही वास्तव में मोक्षमार्ग साधक धर्म है—जो साधक को निज स्वाभाविक अनन्त गुणों के धारी आत्मा में स्थापित कर देता है।

(ज्ञान समुच्चयसार, पृष्ठ-३७)

सिद्ध भगवान् शुद्धता का उपदेश देते हैं; वही तरणतारण हैं

आगे उपदेश-शुद्धसार, गाथा ४९६ में कहते हैं कि सिद्ध भगवान् अपने शुद्ध स्वभाव से जगत के जीवों को ऐसा दर्शा रहे हैं कि ऐसा शुद्ध स्वभाव ही तरणतारण है, उसको दृष्टि में लाओ।

तारन तरन सुभावं उवइदं इष्ट दृष्टि सुद्धं च।

अनुमोय सहकारं उवएसं विमल कम्मविलयंति ॥४९६ ॥

इस अधिकार का नाम मोक्षमार्ग अधिकार है। कैसा आत्मा दृष्टि में लेने से मोक्षमार्ग होता है? तो कहते हैं कि सिद्ध भगवान् जैसा स्वभाव दृष्टि में लेना इष्ट है, शुद्ध है, वह आनन्द का सहायक है, और वह तारण-तरण अर्थात् मोक्ष का कारण है। ऐसे शुद्ध आत्मा का उपदेश भगवान् ने दिया है।

सिद्ध भगवन्तों का शुद्धस्वभाव अन्य जीवों को भी उनके शुद्ध स्वभाव का लक्ष्य करने में निमित्त है, इससे वे तरण-तारण हैं, अपनी शुद्धता से स्वयं तारे हैं और दूसरों के तिरने में निमित्त हैं। सिद्ध में जो है, वह मेरे में है; सिद्ध में जो नहीं है, वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसी प्रतीति करके भेदज्ञान से जीव भवसमुद्र से तिरता है। सिद्ध को पुण्य होता है? नहीं। इसलिए पुण्य आत्मा का स्वरूप नहीं है। सिद्ध को वाणी का योग नहीं, परन्तु उन्हें शुद्ध

स्वभाव द्वारा ही जानो, वह शुद्धता का उपदेश दे रहे हैं। सिद्ध का स्वरूप लक्ष्य में लेनेवाले को आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आता है। अतः सिद्ध भगवान बिना वाणी के भी शुद्धस्वभाव का ही उपदेश दे रहे हैं और उनका स्वरूप समझनेवाले भी वाणी के अवलम्बन के बिना स्वरूप को लक्ष्य में लेते हैं। परन्तु उपदेश की वाणी क्या करती है?—जो स्वयं शुद्ध स्वरूप का लक्ष्य करे, उसको वह निमित्त होती है। इस भाँति सिद्ध भगवान भी शुद्धस्वरूप का लक्ष्य करनेवालों के निमित्त होते हैं।

शुद्ध की भावना से सिद्ध पद.... ऐसी श्रद्धा मोक्ष की मुद्रा है

जो शुद्धस्वरूप को लक्ष्य में लेते हैं, उन्हें ही संवर-निर्जरा होते हैं और राग तो आस्रव-बन्ध का ही कारण है। राग की भावना से संसारभ्रमण होता है और शुद्धस्वरूप की भावना से सिद्ध-पद प्राप्त होता है। 'शुद्धस्य भावना कृत्या...' शुद्धस्वरूप की भावना (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता) करते-करते ही अनन्त जीव सिद्धपद पाये हैं और पायेंगे।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव इष्ट है, सिद्ध भगवान उसके आदर्श हैं, आदर्शपन से (दर्पणवत्) उनको शुद्ध स्वरूप दिखता रहता है। जिस भाँति स्वच्छ दर्पण में देखनेवाले को अपना मुख दिखता है; उसी प्रकार सिद्ध दर्पण में देखने से आत्मा का शुद्धस्वरूप दिखता है। ऐसी शुद्धस्वरूप की दृष्टि ही इष्ट है। वह परम आनन्द की सहायक है; शुद्धदृष्टि करने से ही परम आनन्द का वेदन होता है; अतएव वह आनन्द की सहायक है, राग की सहायक नहीं। राग में तो आकुलता का वेदन है और शुद्ध श्रद्धा तो निराकुल आनन्द

-सहित प्रगट होती है। अहा! पहले ऐसे स्वरूप की श्रद्धा तो करो। सच्ची श्रद्धा किसको कहते हैं, इसकी भी लोगों को जानकारी नहीं है। सच्ची श्रद्धा करनेवाले को मोक्ष की छाप लग गई... उसको स्वयं अपने मोक्ष का निःशंक विश्वास हो गया।

सिद्ध भगवानों की भाँति...

रागरहित आनन्दमय मोक्षमार्ग को सिद्ध भगवान निज स्वभाव से ही दिखा रहे हैं। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' - ऐसा धर्मी जानता है। ऐसे शुद्ध उपदेश को जो ग्रहण करता है, अर्थात् सिद्ध जैसे अपने स्वरूप को जो श्रद्धा-ज्ञान में लेता है, उसके कर्मों का नाश होता है और सिद्धपद प्रगट होता है।

जिस प्रकार सिद्ध भगवान, राग नहीं करते, वैसे ही आत्मा के स्वभाव में राग करना नहीं है; पूर्ण ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण स्वभाव को लक्षगत करते हुए मोक्षमार्ग प्रगट होता है, यही सिद्ध भगवान की भक्ति का फल है। ऐसा शुद्ध लक्ष्य करे, उसने सिद्ध की सच्ची स्तुति की। जिसने सिद्ध को आदर्शरूप स्वीकार किया, (जो सिद्ध को नत हुआ), उसने अपना वह स्वभाव लक्ष्य में लिया, उपदेश का शुद्धसार उसने जान लिया। सिद्ध भगवान जिस शुद्धोपयोग से मुक्त हुए हैं, वही शुद्धोपयोग मोक्ष के इच्छुकों को प्राप्त करना चाहिए, यही सम्यक् उपदेश है। शुद्धोपयोग से मोक्ष होना कहे, वही सच्चा उपदेश है; रागादि से मोक्ष होना कहे, वह सच्चा उपदेश नहीं है किन्तु विपरीत उपदेश है।

मिथ्यादृष्टि अनगार की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भला है

प्रगट में त्यागी हो जाये - इस प्रकार के शुभपरिणाम भी होते

हैं, किन्तु भीतर तत्त्व की विपरीत बुद्धि नहीं छोड़ी हो, राग से धर्म मानता हो, तो इस प्रकार सच्ची दृष्टि के बिना बाह्य-त्याग का धर्म में कोई मूल्य नहीं है। इसकी अपेक्षा सच्ची तत्त्वदृष्टिवाला गृहस्थ भला है, वह गृहस्थ सच्चे मोक्षमार्ग को तो जानता है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥

मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु की अपेक्षा तो निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ उत्तम है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग में है और मिथ्यादृष्टि तो संसारमार्ग में ही है। जिस प्रकार बिगड़े दूध की अपेक्षा छाछ उत्तम है। अतएव सर्व प्रथम अपने यथार्थ स्वरूप को समझकर सच्ची दृष्टि प्रगट करना चाहिए। सच्ची तत्त्वदृष्टि मोक्षमार्ग का मूल है। ●

[१२]

बारहवाँ प्रवचन

मोक्षार्थी जीव

शुद्धोपयोगरूप मोक्षपंथ की ही भावना करता है

[वीर सं० २४८९, भाद्रपद कृष्णा १३]

सिद्ध भगवान की परमार्थ भक्ति का फल यह है कि उनके जैसा निजस्वरूप का लक्ष्य करके अपने में परमानन्दरूप शुद्धोपयोग प्रगट हो। सिद्ध भगवान कैसे हैं? श्री तारणस्वामी कहते हैं—

दर्शन्ति सव्व दृश्यं दर्शयन्ति सुद्ध विमल मलमुक्कं ।

अनुमोयं ज्ञानसहावं उवएसं विमल कम्म गलियं च ॥

(उपदेश शुद्धसार : १९७)

सिद्ध भगवान सभी दृश्यादृश्य पदार्थों के देखनेवाले हैं और मलिनतारहित शुद्ध निर्मल ज्ञानस्वभाव के दिखानेवाले हैं। ऐसा ज्ञानस्वभाव ही अनुमोदन करनेयोग्य है। हे जीव! तेरा भी ऐसा सर्वदर्शी-सर्वज्ञस्वभाव है, उसको तू दृष्टि में ले। जैसे सिद्ध प्रभु किसी के कर्ता नहीं, उसी प्रकार तेरा आत्मा भी किसी का कर्ता नहीं है। ऐसे निर्मल आत्मा का लक्ष्य तू सिद्ध के पास से ग्रहण कर। सिद्ध को देखकर तेरे अपने ऐसे स्वभाव को अपने में देख ले। 'सिद्ध भगवान की भक्ति का यही फल लेना चाहिए कि हम

परमानन्दमय शुद्धोपयोग में रमण करें, जिससे हमारे कर्म गलें।’

मोक्षमार्गी सन्त की दशा... और मोक्षार्थी की भावना

इच्छन्ति मुक्त पंथं इच्छायारेण शुद्ध पंथ दर्शन्ति।

क्षिपिउन तिविह कम्मं क्षिपिनक सहकार कम्मविलयन्ति ॥

(उपदेश शुद्धसार : ४९८)

मोक्षमार्ग की इच्छा करनेवाले भव्य जीवों को क्या करना चाहिए ? शुद्धोपयोग को ही मोक्षमार्ग जानकर उस मार्ग पर चलना चाहिए। मोक्षमार्ग कैसा होता है और सच्चे उपदेश का सार कैसा होता है, वह यहाँ बताया है। प्रथम तो भव्य जीव को मोक्ष की भावना होती है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की शुद्धता; उसको ही वह चाहता है; उसके अतिरिक्त अन्य बाहर की कोई अभिलाषा या भावना उसको नहीं। मोक्ष से विरुद्ध ऐसे रागादि बंधभाव की इच्छा उसको नहीं है। ‘मात्र मोक्ष अभिलाष है’-ऐसा मोक्ष का इच्छुक भव्य जीव, उसको अनुकूल मोक्षमार्ग, सिद्ध भगवान दिखा रहे हैं। क्या दिखाते हैं ? कि शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग है - इस प्रकार अपने शुद्धस्वरूप से वही दर्शा रहे हैं। ध्यानस्थ जैन मुनि स्वयं ही साक्षात् मोक्षमार्ग की संज्ञा हैं, उन्हें देखकर भव्य जीव पहिचान लेता है कि मोक्षमार्ग कैसा होता है ! अहा ! जैन-मुनियों की दशा तो अचिंत्य है।

जो कुदेव-कुगुरु-कुधर्म को सेवते हैं, उन्हें तो मोक्ष की सच्ची भावना ही नहीं, उन्हें मोक्षमार्ग होता नहीं। सर्वज्ञदेव तो अतीन्द्रिय आनन्दरूप हुए हैं, ऐसे देव को जो नहीं पहिचानता, श्रद्धान नहीं करता, उसकी श्रद्धा तो अभव्य की भाँति मिथ्या है, उसको मोक्षाभिलाषी नहीं कहते; उसके अन्तर में तो राग की और पुण्य

-विषयों की इच्छा है, अर्थात् उसे संसार की ही इच्छा है, मोक्ष की इच्छा नहीं। पुण्य में अथवा पुण्य के फल में सच्चा सुख नहीं है; अतीन्द्रिय स्वभावी आत्मा ही सुखस्वरूप है—ऐसा जानकर, उस अतीन्द्रिय सुख की जिसको भावना है, वही मोक्षाभिलाषी है और ऐसे मोक्षाभिलाषी को शुद्धोपयोग ही मोक्ष का उपाय है। 'जो मोक्षमार्ग पर चलना चाहते हैं, उनका कर्तव्य है कि शुद्धोपयोग पर चलें, इससे कर्मक्षय होगा।'

शुद्धता की भावनावाला जीव कुदेव को नहीं भजता

जिनको शुद्धभाव का ज्ञान नहीं, जो सदा रागी-द्वेषी-क्रोधी रहते हैं, ऐसे कुदेवों को पूजना मिथ्यात्व है। आर्त-रौद्र-ध्यान में आरूढ़ ऐसे जीवों की सेवा-पूजा तो नरक गमन का कारण है। श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

कुदेवं ये हि पूजन्ते वन्दना भक्ति तत्पराः ।

ते नरा दुःख सह्यन्ते संसारे दुःख भीरुहे ॥

(श्रावकाचार-५६)

कुदेवों के पूजन-वन्दन-भक्ति में जो तत्पर हैं, वे जीव भयंकर दुःखों से भरे संसार में बहुत दुःखी होते हैं। अरे! जैन कुल में जन्म लेकर तुझे अपने सर्वज्ञ-वीतरागदेव की पहिचान भी न मिली तो उनके द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग तू कैसे साध सकेगा? यहाँ तो कहा है कि भव्य जीव, मोक्ष का अभिलाषी है, उसको स्वयं राग की भावना नहीं, अतएव रागी कुदेवों को वह भजता नहीं। उसको मोक्ष की अर्थात् पूर्ण शुद्धता की (-मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, उसकी) भावना है, इसलिए जिन्होंने शुद्धता को प्राप्त किया है, ऐसे

देव-गुरु को ही वह पूजता है। राग से धर्म माननेवाले कुदेव-कुगुरु को वह नहीं मानता। देखो, यह सच्चा निर्णय करना मुमुक्षु का कर्तव्य है। वह अपने ज्ञान से सच्चे-झूठे का निर्णय करता है।

केवली भगवान का ज्ञान एवं आनन्द इन्द्रियातीत है, विषयातीत है—ऐसे ज्ञान-आनन्दस्वभावी आत्मा को जो नहीं मानता, वह मोक्ष से दूर है, उसको स्वभाव की रुचि नहीं किन्तु राग और बन्ध की रुचि है। जिस प्रकार वीतरागदेव को भूलकर कुदेव को (रागी देव को) पूजे तो उसकी श्रद्धा में अत्यन्त विपरीतता है, उसी प्रकार वीतराग स्वभाव को भूलकर जो राग का आदर करे, उसकी श्रद्धा भी विपरीत है।

अरे, जिनमन्दिर में वीतराग भगवान की मान्यता को एक ओर रखकर क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि कुदेवों को पूजने लग जाये तो उसकी मान्यता वीतराग भगवान से विरुद्ध है। मन्दिर में तो वीतराग भगवान की मान्यता है। जिनेन्द्र देव का भक्त सर्वज्ञ-वीतराग-जिनदेव के अतिरिक्त अन्य को पूजता नहीं है। पूर्णानन्दी प्रभु आत्मा वीतरागस्वरूपी है, उसको दर्शानेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र से विरुद्ध जो माने, वह मोक्ष के हेतु अयोग्य है।

हे आत्मन्! मोक्ष का पंथ दिखानेवाले वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र को तू नहीं जानता और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है तो तेरी रुचि मोक्षमार्ग में नहीं, किन्तु बंधमार्ग में है।

मोक्ष के पंथ की भावनावाले भव्य मुमुक्षु के अन्तरंग में वीतराग-स्वभाव और बाह्य में उसके निमित्त, इनके अतिरिक्त अन्य का आदर नहीं होता। वे मोक्षमार्ग से प्रतिकूल मार्ग का आदर नहीं

करते। वे सिद्ध भगवान को आदर्शरूप रखते हुए मोक्षमार्ग का सेवन करते हैं। मोक्षमार्ग कैसा है ? शुद्धोपयोगरूप है।

मोक्षमार्ग के व्यापारी को क्या करना चाहिए ?

मुमुक्षु अथवा मोक्षमार्ग के व्यापारी को उसके आत्मा के मोक्ष का यथार्थ मार्ग क्या है—यह समझना चाहिए, और उस सम्बन्ध में जितने प्रकार की भूलें हों, उन सबको सत्-समागम द्वारा समझकर मिटाना चाहिए। जिस प्रकार व्यापारी अपने व्यापार के समस्त माल की कीमत याद रखता है, उसमें भूल नहीं करता, उसी प्रकार जिसको मोक्षमार्ग का व्यापार करना है, उसको तत्सम्बन्धी सातों तत्त्वों का मूल्य (उनका स्वरूप) जैसा है, वैसा जानना चाहिए। उनके जाने बिना क्या भाव लेना और क्या भाव छोड़ना—इसका ज्ञान नहीं हो सकता और मोक्षमार्ग का साधन नहीं हो सकता।

मोक्षार्थी जीव इच्छंति मुक्ति पथं... अर्थात् शुद्धोपयोगरूप निश्चय—मोक्षमार्ग की इच्छा करता है, और रागादि व्यवहार जो कि मोक्षमार्ग नहीं है उसकी वह इच्छा नहीं करता।

मोक्षार्थी जीव को स्वाश्रय का उपदेश अनुकूल है

भगवान शुद्ध पंथ दिखाते हैं कि हे जीवो! हमने ऐसी शुद्ध पर्याय अन्तर स्वभाव के आश्रय से प्रगट की है, तुम भी अन्तर स्वभाव में उपयोग रखकर ऐसी शुद्धता प्रगट करो, वही शुद्ध मोक्ष पंथ है। भगवान का ऐसा उपदेश ही मुमुक्षु को अनुकूल है, अन्तर स्वभाव के आश्रय का उपदेश ही मोक्षार्थी को अनुकूल है, वह मोक्षार्थी आत्मा की कामना करता है और भगवान भी यही उपदेश देते हैं। इस भाँति भगवान का उपदेश भव्य जीव को अनुकूल है।

कायर को वह प्रतिकूल है, तथापि मोक्षार्थी तो उसे समझकर हर्षित हो जाता है और उसकी परिणति अन्तर्मुख हो जाती है; अतः उसको वह अनुकूल है।

वचनामृत वीतराग के परम शांत रसमूल,
औषध जो भव रोग के कायर को प्रतिकूल।

(श्रीमद् राजचन्द्र)

भावना का मंथन

देखो, यह तो भावना का मंथन है। जिसकी अपने को रुचि हो, उसकी भावना बारम्बार उठती है। यहाँ आत्मा की रुचि से बारम्बार उसकी भावना उठती है। अन्तर में रुचि और भावना पुष्ट करते हुए शुद्ध आनन्दमय आत्मा का अनुभव करना मोक्षमार्ग है। पुण्य-पाप में उपयोग जुड़ना अशुद्ध है। वह मोक्षमार्ग नहीं, उससे छूटकर शुद्धस्वरूप में जो उपयोग जुड़े, वही मोक्ष का कारण है। भगवान ने ऐसा आदर्श मार्ग दिखाया है, उसका पहले निर्णय करना चाहिए और उसका मंथन करना चाहिए। ऐसे शुद्धभाव से सर्व कर्मों का क्षय होकर मोक्षदशा प्रगट होती है। अतएव जो मोक्ष के मार्ग पर चलना चाहते हों, उन्हें शुद्धोपयोग का मार्ग लेना चाहिए।

सम्यक्त्वी ही जैन है... मोक्ष की चाबी उसके हाथ में है

सम्यक्त्व की भूमिका अनुसार शुद्धोपयोग अव्रती श्रावक को भी है और उससे वह संसार-दुःख का छेदन कर देता है। इस सम्बन्ध में श्री तारणस्वामी 'श्रावकाचार' में कहते हैं कि—

सप्त प्रकृति विच्छेदात् शुद्धदृष्टिश्च दृष्टते।

श्रावकं अव्रतं जैनः संसार दुःख परान्मुखं ॥३३॥

शुद्ध दृष्टि के बल से मिथ्यात्वादि सात कर्म-प्रकृतियों को छेदकर अत्रती जैन श्रावक भी संसार-दुःख से पार पा लेता है, संसार-दुःख से पराङ्गमुख होकर वह सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्य सुख का अनुभव करता है। ऐसा सम्यग्दर्शन करे तो भले ही वह अत्रती हो तो भी उसको जैन कहा है। इसके बिना केवल सम्प्रदाय में जन्म ले लेने से जैनपना नहीं हो जाता। संसार दुःख से या परभावों से पराङ्गमुख और चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख ऐसा सम्यक्त्वी ही मोह को जीतनेवाला जैन है। सम्यक्त्व का लाभ हुआ कि मोक्ष की चाबी हाथ आ गयी।

सत्य-असत्य का निर्णय

सम्यग्दर्शन आत्मा का शुद्धपरिणाम है। रागरहित चिदानन्द-स्वभाव में उपयोग जुड़े, तभी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन हो जाने के पश्चात् उपयोग भले ही अन्यत्र हो जाये, किन्तु सम्यग्दर्शन प्रगट होते समय तो उपयोग 'स्व' में लगा हुआ होता है; अतः शुद्धोपयोग होता है। ऐसे सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानपूर्वक शुभ व्रत पालते हुए भी वह जीव अत्रती जैनपन भी नहीं पा सकता। वहाँ श्रावक या मुनिपने की तो बात ही क्या? देखो, इसमें किसी की निन्दा नहीं; किन्तु जीवों के हित हेतु सत्य वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन है। सत्य को सत्य तथा असत्य को असत्य बताने में कोई निन्दा नहीं है तथापि सत्य-असत्य को जानकर अपना हित करने की बात है। सत्य क्या और असत्य क्या, उसकी पहिचान जो न करे, वह अपना हित किस प्रकार साध सकेगा? सत्य-असत्य के निर्णय बिना किस ओर जायेगा और कहाँ से वापिस फिरेगा? अतएव सत्य-असत्य का यथार्थ निर्णय सम्यग्दर्शन का कारण है।

सम्यग्दृष्टि का शुद्ध परिणाम

सम्यग्दृष्टि अत्रती हो तो भी वह चिदानन्दस्वभाव की ही रुचिवाला है, राग से और संसार से वह उदासीन है। श्रद्धा का बल ही कुछ ऐसा है कि आत्मा को राग से पृथक् ही पृथक् रखता है।

और भी श्री तारणस्वामी गाथा ३४ में कहते हैं कि—शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक जीव शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक है, शुद्धस्वभाव की सन्मुखता उसका परिणाम है, और मिथ्यादृष्टि का परिणाम शुद्धस्वभाव से विमुख है। इस प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी इन दोनों के परिणामों में बड़ा अन्तर है। सम्यक्त्व श्रद्धागुण का शुद्ध परिणाम है। सिद्ध भगवान के क्षायिक सम्यक्त्वादि आठ मुख्य 'गुण' कहे हैं, वे वास्तव में गुणों के शुद्ध परिणाम हैं। गुण जैसा ही निर्मल परिणाम हो, उसको ही गुण कहा है, रागादि दोष के अभाव की अपेक्षा से उसको गुण कहा है, किन्तु है तो वह पर्याय। द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ ज्ञान, यह तो जैनधर्म की मूल वस्तु है, इसे अवश्य जानना चाहिए। मिथ्यात्व अशुद्ध परिणाम है और सम्यक्त्व शुद्ध परिणाम है।

सम्यक् देव-गुरु के भक्त होकर सम्यक्धर्म का आचरण करो

जगत में अनन्तानन्त जीव हैं; एक-एक जीव में अनन्त गुण हैं; एक-एक गुण अनन्त पर्यायरूप परिणमता है; आत्मा का ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप सम्यग्दृष्टि प्रतीत में लेता है। आत्मा का ऐसा यथार्थ स्वरूप जिनेन्द्र सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य किसी के मत में नहीं है और जिनेश्वर के नन्दन (सम्यग्दृष्टि) के अतिरिक्त अन्य उसकी यथार्थ प्रतीत कर नहीं सकते और ऐसे

आत्मा की प्रतीत के बिना कभी धर्म होता नहीं है। इससे श्री तारणस्वामी २५ वीं गाथा में कहते हैं कि 'सम्यक् देव-गुरु-भक्त सम्यक् धर्म समाचार'—सच्चे देव-गुरु की भक्ति पूर्वक, उनके द्वारा कथित सम्यक् धर्म का सम्यक् रीति से आचरण करो। इस प्रकार सम्यक्त्व का अनुभव करके मिथ्यात्व से मुक्ति पाओ। देखो, वीतरागी देव-गुरु की भक्ति भी सम्यग्दृष्टि को ही सच्ची होती है।

सिद्ध भगवान् शुद्ध आत्मस्वरूप दिखा रहे हैं

सिद्ध भगवान् शुद्ध आत्मस्वरूप ही दिखा रहे हैं—यह बात 'उपदेश शुद्धसार' में चल रही है। उसमें ४९९ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

**चेतन्ति चित्त सुद्धं सुद्धं स सहाव चेत उवएसं ।
रुचितं विमल सहावं रुचियन्तो ज्ञान निम्मलं विमलं ॥**

सिद्ध भगवान् शुद्ध आत्मा का ही चिन्तन करते हैं—उसका ही अनुभव करते हैं, वे ऐसा दर्शाते हैं कि हे जीवो! तुम भी शुद्ध आत्मस्वभाव को ऐसे ही अनुभव करो, उसकी रुचि करो, उसकी रुचि से निर्मल-वीतराग-निरावरण ज्ञान खिलता है। आत्म-अनुभव करने से हम परमात्मा हुए और तुम भी ऐसा अनुभव करो—ऐसे आदर्शपन से सिद्ध भगवान् मोक्षमार्ग दिखा रहे हैं। ऐसा अनुभव ही भगवान् के उपदेश का सार है। अनन्त गुणों के पिण्डरूप अपना शुद्ध आत्मा, उसमें अन्तर्मुख होकर उसके उप अर्थात् समीप वास करना सच्चा उपवास है; इसके अतिरिक्त शरीर की बाह्य-क्रिया आत्मा की नहीं, वह तो भिन्न है, उसमें आत्मा का वास नहीं। 'उपवास' शरीर में नहीं रहता; उपवास तो आत्मा में

रहता है। 'उपवास' क्या है—इसकी लोगों को जानकारी नहीं और भ्रम से मान रहे हैं कि हमने उपवास किया।

सामायिक तो बहुत ऊँची भूमिका है—सम्यक्त्व उसका मूल है

जीवादि छह द्रव्य कैसे हैं ? उनमें पाँच अस्तिकाय कैसे हैं ? जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का स्वरूप क्या है ? नौ पदार्थ, उनमें जीव और अजीव यह दो मूल द्रव्य और बाकी की पर्यायें हैं, उनमें बन्ध-मोक्ष का कारण वह किस प्रकार है ? यह सभी जानकर सच्ची श्रद्धा करना चाहिए। ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धान सम्मिलित है। प्रथम ऐसा सम्यग्दर्शन कहा है, उसके बाद ही सामायिक आदि होती है। सामायिक तो बहुत ऊँची भूमिका है, परन्तु उसका पाया (मूल) सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना अज्ञानपने में तो सच्चा व्यवहारधर्म भी नहीं होता। अपने निर्मल स्वभाव की रुचि सच्ची श्रद्धा है और उस रुचि के बल से धर्मात्मा को ज्ञानादि की निर्मलता होकर केवलज्ञान प्रगट होता है।

सम्यक्त्व तीर्थ है

श्रावकाचार, गाथा २३५-२३६ में रत्नत्रय के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि नित्य प्रकाशमान ऐसे ध्रुव ज्ञानमय तत्त्व का दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीर्थ है, अर्थात् कि वह भव-सागर से तारनेवाला जहाज है। सम्यग्दर्शन भी भव से तारनेवाला तीर्थ है। सभी गुणों से सम्पूर्ण ऐसे अपने ज्ञानमूर्ति आत्मा का दर्शन, सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शनादि कोई बाहर की भिन्न वस्तु नहीं, किन्तु शुद्ध आत्मगुण ही है। राग कोई आत्मगुण नहीं, वह भवसागर से तारने का जहाज भी नहीं; वह तो उल्टा बोझरूप है। राग को तोड़कर

वीतराग होकर भवसागर तिरा जाता है। राग से पूर्ण रागी भवसागर से तरता नहीं है।

बिना राग का देव और बिना राग का मार्ग

मोक्ष का ऐसा वीतरागमार्ग बतानेवाले तारणहार वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति पूजा-भक्ति का शुभराग यद्यपि धर्मी को हो, परन्तु धर्मी उस राग को मोक्षमार्ग नहीं मानता। सर्व गुण-सम्पन्न सम्पूर्ण अपने ज्ञानमूर्ति आत्मा का दर्शन-चिन्तन-निर्विकल्प अनुभवन यह मोक्षमार्ग है, उसमें राग नहीं। इस भाँति मोक्ष का मार्ग रागरहित है और इस मार्ग के बतानेवाले सर्वज्ञदेव भी रागरहित हैं।

जीव की मिथ्यात्वादि अशुद्धपर्याय, सो संसार; सम्यक्त्वपूर्वक आंशिक शुद्धपर्याय, वह मोक्षमार्ग है और पूर्ण शुद्धपर्याय; वह मोक्ष है। ऐसा संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष, तीनों ही जीव की पर्याय में हैं, कहीं बाहर नहीं। विकारभाव अवगुण है; विकार का नाश होकर निर्दोष अधिकारभाव प्रगटा, उसको गुण कहा है—निर्मल पर्याय को गुण कहा है, क्योंकि जैसा गुणस्वभाव शुद्ध है, वैसी शुद्धपर्याय हुई। ऐसी रागरहित शुद्धपर्याय मोक्षमार्ग है।

सम्यक्त्व की शुद्धि के बिना चारित्र की शुद्धि नहीं होती

गाथा २०८ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

यस्य सम्यक्त्वहीनस्य उग्रं तव-व्रत-संजमं ।

सर्वा क्रिया अकार्या च मूल विना वृक्षं यथा ॥

जो जीव सम्यक्त्वहीन है, उसके उग्र व्रत-तप-संयम आदि सभी क्रियायें व्यर्थ हैं—निष्फल हैं। जिस प्रकार बिना मूल के वृक्ष नहीं होता; उसी प्रकार बिना सम्यक्त्व के धर्म नहीं होता। मोक्षमार्गरूपी वृक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है। 'दंसण मूलो धम्मो'

भगवान ने जो धर्मोपदेश दिया, उसका मूल सम्यग्दर्शन है, यह बात 'अष्टप्राभृत' में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कही है। सम्यग्दर्शन के बिना सभी मोक्ष के हेतु व्यर्थ हैं। जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी मूल विद्यमान है, उसके सम्यक्त्व-मूल में से व्रतरूपी शाखा फूटती है और उसके ही अनन्त गुणों की शुद्धता प्रगट होती है।

शुद्ध आत्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन सर्व कल्याण का मूल है, उसके बिना कल्याण का पंथ मिलता नहीं। जिस प्रकार मूल बिना वृक्ष नहीं; उसी प्रकार सम्यक्त्व बिना धर्म नहीं। मुनिराज समन्तभद्रस्वामी 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में कहते हैं कि—'इस जीव को तीन काल और तीन लोक में सम्यक्त्व के समान कोई श्रेय नहीं है और मिथ्यात्व के समान इस जगत में कोई अश्रेय नहीं है।'

श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि—वीतरागभावरूप चारित्र, यही साक्षात् धर्म है और सम्यग्दर्शन उसका मूल है—(चारित्तं खलु धम्मो, और दंसण मूलो धम्मो) अर्थात् सम्यग्दर्शन बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जिसके हृदय में सम्यग्दर्शनरूपी मूल है, उसको शुद्धता की अनन्तानन्त शाखायें फूटती हैं और मोक्षरूपी फल पकता है। सम्यक्त्वरहित क्रियायें तो मिथ्यात्व के रहने का जाल है, क्योंकि उसमें धर्म मानकर जीव, मिथ्यात्व को पोषता है और संसार में भ्रमण करता है। अनेक प्रकार के शास्त्रों की पण्डिताई भी सम्यक्त्व बिना मोक्ष का साधन नहीं होती। मोक्ष का मूल-साधन सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व होते ही जीव नियम से मोक्षगामी होता है। अतएव मुमुक्षु जीवों का सबसे पहला कर्तव्य सत्समागम से सम्यक्त्व प्राप्त करना है। ●●

[१३]

तेरहवाँ प्रवचन

जिनोपदेश का सार-शुद्धात्मध्यान से ही मोक्ष की सिद्धि

[वीर सं० २४८९, भाद्रपद कृष्णा १४]

मोक्षार्थी जीव को शुद्धता की धुन है, अर्थात् शुद्धात्मा की भावना का बारम्बार अभ्यास करता है। शास्त्रों में भी उसके ही उपदेश की प्रधानता है। 'उपदेश शुद्धसार' द्वारा उस शुद्धता की भावना करते हुए श्री तारणस्वामी गाथा ५०० में कहते हैं कि—

उत्तं सुद्धं सुद्धं उत्तायन्तु विमल कम्म विलयं च।

परसे परम सुमावं परषंतो ध्रुव सुद्ध कम्म गलियं च ॥

सिद्ध भगवान जैसा अपना शुद्ध स्वभाव है, उस परम स्वभाव को परखते अथवा स्पर्श करते, देखते, अनुभव करते कर्म गल जाते हैं और ध्रुव सिद्धपद प्राप्त होता है। ऐसे परम स्वभाव की भावना करने योग्य है।

स्वभाव की भावना द्वारा सिद्धपद की साधना होती है

जीवों ने अज्ञानदशा में तो अनादि से परभावों का ही रटन-चिन्तन किया है और दुःखी हुए हैं, उसके बदले अब शुद्धात्मा का स्वरूप क्या है, यह जानकर उसका रटन-चिन्तन और अनुभव

करने योग्य है। धर्मी जीव अपना स्वरूप कैसा विचारता है, यह पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि—

‘चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरो’

—ऐसे स्वभाव की भावना से ही सिद्धगति प्राप्त होती है। परम स्वभाव की भावना निश्चय है, वह मोक्षमार्ग है। ऐसे स्वभाव का जिसको भान नहीं है, वह व्यवहारमूढ़ है। समयसार, गाथा ४१३ में कहते हैं कि हे भव्य! तू परमार्थ मोक्षमार्ग में अपने आत्मा को लगा।

**तुं स्थाप निजने मोक्ष पंथे, ध्या अनुभव तेहने,
तेमां ज नित्य विहार कर, नहि विहर पर द्रव्यो विषे।**

निश्चयमोक्षमार्ग की जिसको जानकारी नहीं, परमार्थस्वरूप को जो समझता नहीं और व्यवहार में ही मोहित होकर उसे मोक्षमार्ग मानता है, उसको आचार्यदेव ने व्यवहारमूढ़ और निश्चयमार्ग में अनारूढ़ कहा है। अरे भाई! भगवान ने व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग की साधना नहीं की, भगवान ने तो परमार्थस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से ही मोक्षमार्ग की साधना की है और ऐसे मार्ग का ही उपदेश दिया है, तो फिर तू दूसरा मोक्षमार्ग कहाँ से लाया ?

सिद्ध और साधक

सिद्ध भगवान अपने उत्कृष्ट आनन्दस्वभाव को देखने में लीन हैं। मुमुक्षु साधक भी अपने ऐसे ही स्वभाव को देखता है, उसे ही आदरणीय मानता है। सिद्ध भगवान जिस मार्ग पर चले हैं, उसी मार्ग पर चलना, यही मुमुक्षु का कर्तव्य है। अतएव शुद्धोपयोगरूप मार्ग ही मुमुक्षु के लिये उपादेय है। श्रावक के शुभराग को उपचार से ही धर्म कहा है, अर्थात् उस भूमिका में वैसा शुभराग होता है,

उसका ज्ञान कराया है, किन्तु मोक्षहेतुरूप धर्म तो उस समय का शुद्ध-अरागी भाव ही हैं। सिद्धसमान अपने शुद्धस्वभाव को देखने से और अनुभव करने से ही कर्मों का क्षय होता है। रागवाले आत्मा का अनुभव करने से कर्मों का क्षय नहीं होता।

जैनमार्ग

इस उपदेश शुद्धसार के मंगलाचरण में श्री तारणस्वामी ने श्री जिनेन्द्र भगवन्तों को नमस्कार किया है और उन जिनेन्द्रदेवों द्वारा कथित मार्ग ही तीन लोक में श्रेष्ठ है, ऐसा बताया है। जैनमार्ग की किसी अन्य मार्ग के साथ कोई तुलना करे तो उसे जैनमार्ग की जानकारी नहीं है; श्री तारणस्वामी ने क्या कहा, उसकी भी उसे जानकारी नहीं है। यहाँ तो शुद्ध जैनमार्ग की बात है, उसमें कोई गड़बड़ी नहीं चल सकती।

ज्ञान-आनन्दमय शुद्धात्मा ऐसे परम देवाधिदेव अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार करना, उनकी भक्ति-पूजा-विनय का भाव धर्मी को आता है, उसमें शुभ विकल्प है और उसी समय उन अरिहन्त जैसा अपना शुद्ध आत्मा है, उसे भी धर्मी सम्यक्-श्रद्धा से अन्तर में देखता है। निश्चय से अपना शुद्ध आत्मा ही आराध्यदेव है। उसको भूलकर केवल बाह्य देव को भजे तो उसमें शुभराग है, किन्तु उस राग के द्वारा भव से पार नहीं होते। अपने शुद्ध आत्मा की आराधना के द्वारा ही भव से पार होते हैं और वही जैनमार्ग है।

मोक्षमार्ग के शुद्ध उपदेशदाता अरिहन्त

जगत में तीर्थकर अनादि प्रवाह से होते आये हैं और ऐसा शुद्ध

जैनमार्ग अथवा मोक्षमार्ग दिखाते आये हैं। महावीर, सीमन्धर, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, सूर्यकीर्ति-ऐसे किसी एक खास तीर्थंकर को लक्ष्य में लें तो वह सादि हैं, किन्तु समुच्चय तीर्थंकर और सिद्ध अनादि से होते आये हैं और उनके द्वारा कथित मार्ग भी अनादि से चलता रहा है। केवलज्ञान होने के पश्चात अरिहन्तदशा में वाणी के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, सिद्धदशा होने पर वाणी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पूर्ण आनन्द के अनुभवसहित और सर्वज्ञता द्वारा लोकालोक के समस्त पदार्थों के ज्ञाता अरिहन्त भगवान को वाणी का योग सर्वथा नहीं होता तो उनके द्वारा जाने गये तत्त्वों को जगत किस प्रकार जानता? सर्वज्ञदेव ने संसार-भ्रमण से छुड़ानेवाला निर्दोष उपदेश दिया; जैसा शुद्धस्वरूप अपने साक्षात् केवलज्ञान में देखा, वैसा शुद्धस्वरूप जगत को दिखाया है, तात्पर्य यह है कि भगवान का उपदेश शुद्ध है।

चतुर्गति के कारणरूप जो मिथ्यात्वादि उदयभाव हैं, उनसे छूटने का भगवान का उपदेश है। जिससे संसार-भ्रमण मिटे और मोक्ष मिले, ऐसा शुद्धात्म-अनुभव करने का भगवान का उपदेश है। भगवान की वाणी में भगवान होने का उपदेश है। 'मैं भगवान... तू भगवान, मैं सिद्ध, तू सिद्ध।' भगवान स्वयं भवरहित हैं और भवरहित होने के पुरुषार्थ का भगवान ने उपदेश किया है। जिससे भव होता हो, वह भगवान का उपदेश नहीं है। भव का अभाव जिससे हो, वही भगवान का उपदेश है। भगवान की वाणी 'पर से' पृथक्ता कराती है और स्वभाव-सन्मुखता कराती हुई भव से छुड़ाकर परम आनन्द को प्राप्त कराती है।

**‘वचनामृत वीतराग के परम शांत रसमूल,
औषधि यह भव रोग की, कायर को प्रतिकूल।’**

पुण्य और पाप तो अनादि से जीव करता आया है, यह कोई नयी बात नहीं है और यदि अब भी इसका ही उपदेश देवे तो उस उपदेश में नवीनता क्या रही ? पुण्य-पाप करना तो जीव को बिना उपदेश के भी आता है। इससे परे आत्मा क्या वस्तु है – उसका उपदेश सच्चे मोक्षमार्ग का उपदेश है। बिना राग का मोक्षमार्ग भगवान ने बताया है। शुद्ध आत्मा का अनुभव ही भगवान के उपदेश का सार है और वही मुक्ति का कारण है, ऐसा जिनोपदेश त्रिलोक का प्रदीप है। भगवान कथित मार्ग ही तीन लोक में श्रेष्ठ मार्ग है। सम्यग्दृष्टि जो उपदेश देते हैं, वह भी जिनोपदेश के अनुसार ही है।

मिथ्यात्व-मोह को जीतने की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि भी ‘जिन’ है। मुनि और गणधर ‘जिनवर’ तथा अरिहन्त भगवान जिनवरों में श्रेष्ठ ‘जिनवरेन्द्र’ हैं। उनका उपदेश राग-द्वेष-मोह को जीतने का है। बन्धमार्ग से छुड़ानेवाला और मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला उपदेश जिनोपदेश है। भव से तरनेवाले भगवन्तों का उपदेश, भव से तारणहार है। मोह को जीतनेवाले जिनों का उपदेश, मोह का नाशक है।

बोलते-भगवान... और मूक-भगवान

भगवान ने उपदेश में क्या कहा है ? उसका यहाँ वर्णन चलता है। उपदेश शुद्धसार की गाथा ५०१ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

बोलयन्ति वयन जिनिंयं बोलन्तो सुद्ध कम्म विलयन्ति ।
धरयन्ति धम्म सुक्कं धरयन्तो सूक्ष्म कम्म खिपनं च ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान ने जो वचन कहे, उसके वाच्यरूप शुद्धतत्त्व का ध्यान करने से कर्मों का नाश होता है। भव्य जीव, धर्म-शुक्ल-ध्यान में शुद्धात्मा को धारण करते हैं और उसके सूक्ष्म ध्यान द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

कितने ही जीव ऐसे मूक-केवली होते हैं कि केवलज्ञान होने के पश्चात् दिव्यध्वनि का योग उनको नहीं होता, अपने आत्मा का काम तो पूरा कर लिया किन्तु ॐकार ध्वनि खिरे, इस प्रकार का उदय उनको नहीं होता, परन्तु तीर्थकर भगवन्तों को तो दिव्यध्वनि का योग निश्चित ही होता है। इसके अतिरिक्त अन्य केवली भगवन्तों (भरतजी, रामचन्द्रजी आदि) को भी दिव्य वाणी का योग होता था और इच्छा बिना सहज ही वाणी खिरती थी। केवली भगवान छद्मस्थ की भाँति ओंठ-मुँह हिलाकर नहीं बोलते, किन्तु सम्पूर्ण शरीर से, सर्वांग असंख्य प्रदेशों से मधुर दिव्यध्वनि निकलती है। इस प्रकार यहाँ 'बोलते-केवली' की बात कही है। इनकी ध्वनि की मधुरता की तो क्या बात! और इनके जो वाच्यभाव हैं, उनकी महिमा की क्या बात!—जिस वाच्य को लक्ष्य में लेते ही सम्यग्दर्शन होता है और शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है। भगवान की ॐकार ध्वनि छूटती है और उसका वाच्यरूप शुद्ध आत्मा है। भगवान की वाणी ऐसा कहती है कि आत्मा शुद्धस्वभावी सर्वगुणसम्पन्न है, उसको अनुभव में लाओ।

ज्याँ चेतन त्याँ अनन्तगुण... केवली बोले अेम,
प्रगट अनुभव आत्म का... निर्मल करो सप्रेम... रे...

चैतन्य प्रभु! प्रभुता तेरी चैतन्य धाम में..

अमृत वरस्या रे तारा आत्म में...

भगवान का उपदेश हमारे लिये है

देखो, यह भगवान का उपदेश! ऐसा स्वरूप समझनेवाले जीव हैं, उनके लिये भगवान का उपदेश हुआ है। भव्य जीव कहते हैं कि भगवान का उपदेश हमारे लिये ही है, हमारे ऊपर कृपा करके भगवान ने हमको शुद्धात्मा का उपदेश दिया है। दिव्यध्वनि में भगवान कहते हैं कि तुम पूर्ण आनन्द से भरपूर शुद्ध आत्मा हो.. तुममें शक्तिरूप से परमात्मपन भरा है। तुम्हारे अन्तर के चैतन्य गर्भ में परमात्मा विराज रहे हैं। उनके ऊपर दृष्टि एकाग्र करो, उनकी सेवा-भक्ति से परमात्मपन प्रगट होगा... शक्ति में रमनेवाला परमात्मपन पर्याय में भी खिल जायेगा। तुम्हारी शक्ति की एक टंकार में केवलज्ञान लेने की सामर्थ्य है, ऐसा भगवान की वाणी से प्रगट होता है। अहो! ऐसी वाणी का अनुशीलन अर्थात् वाणी के वाच्यों का मनन-चिंतन करने से भावश्रुत का अपूर्व आह्लाद अनुभव में आता है। 'मैं भी परमात्मा हूँ' - ऐसे चिन्तन से आनन्द का अनुभव होता है।

जिनवाणी का सार : मोह का क्षय और शुद्धात्मा की प्राप्ति

अहो! परमात्मतत्त्व का ऐसा यथार्थ ज्ञान, यथार्थ उपदेश केवली प्रभु के वीतराग-मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं होता नहीं है। भगवान की वाणी द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ ज्ञान कराती है और उसके यथार्थ ज्ञान द्वारा मोह का नाश होता है एवं सिद्धपद प्रगट होता है। यह जिनवाणी का फल है। किन्तु अन्तर के लक्ष्य बिना

केवल शास्त्र पढ़ लिया जाये और उसके वाच्यों का विचार न करे तो उसको जिनवाणी का सार समझ में नहीं आ सकता और उसका सच्चा फल प्रगट नहीं होता। भगवान का उपदेश तो कर्मक्षय का ही कारण है।

अरहन्त सौ कर्मो तणो करी नाश अे ज विधि बडे,
उपदेश पण अेम ज करी निर्वृत्त थया नमुं तेमने ॥

(प्रवचनसार, गाथा ८२)

शुद्धात्मा में दृष्टि एवं एकाग्रतारूप शुद्धोपयोग द्वारा समस्त तीर्थकरों ने कर्मों का क्षय किया और उसके पश्चात् समवसरण में श्रोतागणों को ऐसा ही उपदेश दिया। जैसे मार्ग का स्वयं साधन किया, वैसा ही मार्ग जगत को बताया। भगवान कहते हैं कि जैसा शुद्ध मैं हूँ, वैसा ही शुद्ध तू है, अपने उपयोग को अन्तर में ढालकर ऐसे शुद्धस्वभाव को लक्ष्य में ले, अपनी पर्याय को शुद्धस्वभाव में जोड़ और परभावों को छोड़। पर्याय को स्वभाव-सन्मुख करके एकता का अनुभव करे तो उसमें मोक्षमार्ग समा जाता है। भाई! तेरी मोक्ष-क्रीड़ा तेरी पर्याय में ही समायी है। मोक्ष के लिये अन्यत्र कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं। मोक्षहेतु अपने में ही स्वसन्मुख हो। ऐसा उपदेश भगवान का उपदेश है और मोह का क्षय होकर शुद्धात्मा की प्राप्ति, यह उसका फल है।

मोक्ष का कारण ध्यान, शुद्धात्मा उसका ध्येय

आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्द से भरपूर समुद्र है, उसको लक्ष्य में लेकर ध्यान में धारण करो। अभी यहाँ पंचम काल में जीवों को शुक्लध्यान नहीं होता किन्तु धर्मध्यान होता है, उसमें भी ऐसा ही शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान, यह दोनों ध्यान आत्मा की अविकारी पर्यायें हैं। आत्मध्येय में एकाग्र होने से ऐसा ध्यान प्रगट होता है, वहाँ विकल्प छूट जाता है। सच्चा धर्मध्यान कोई विकल्प नहीं, राग नहीं; वह तो चैतन्य में एकाग्रतारूप स्थिर उपयोग है। 'धर्म' अर्थात् शुद्धस्वभाव, उसमें एकाग्रतारूप ध्यान, वह धर्मध्यान है। ऐसे ध्यान द्वारा सूक्ष्म कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। शरीर स्थूल स्कन्ध है, उसमें आठों स्पर्श हैं और कर्म सूक्ष्म स्कन्ध हैं, उनमें चार स्पर्श हैं। आत्मा अस्पर्शी अतीन्द्रिय परम सूक्ष्म चैतन्यस्वरूप है, उसके ध्यान द्वारा शुद्धता होने से अशुद्धता छूटती है; अशुद्धता छूटने से कर्म का सम्बन्ध छूट जाता है और सर्व कर्मों का सम्बन्ध छूटने से शरीर का भी सम्बन्ध छूटकर मोक्षदशा प्रगट होती है। इस प्रकार शुद्धात्मा का ध्यान, मोक्ष का उपाय है। ध्यान का जो ध्येय है, उसकी पहिचान बिना किसका ध्यान करोगे? परलक्ष्य से होनेवाला शुभ विकल्प तो राग और बन्ध का कारण है, उस राग के द्वारा शुद्धात्मा ध्येय नहीं होता; अतः वह मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष शुद्धात्मा के ध्यान से ही होता है और वह ध्यान रागरहित है।

‘ध्यान बड़े अभ्यंतरे देखे जे अशरीर,

शरमजनक जन्मो टले, पीये न जननी क्षीर।’ (योगसार)

ध्यान में सर्वथा शून्यता नहीं, किन्तु वह आनन्द से परिपूर्ण है

शब्द का लक्ष्य छोड़कर शब्दातीत चैतन्यता के लक्ष्य से यथार्थ ज्ञान प्रगट होता है। शास्त्र के शब्दों की ओर देखा करे तो उसमें शुभराग है, परन्तु जब उसके वाच्यरूप शुद्धात्मा की ओर उपयोग झुकता है, तब विकल्प टूटता है और तभी ध्यान होता है।

‘ॐ’ आदि शब्द का जाप किया करे, उसमें शुभभाव है परन्तु ऐसे जाप के द्वारा कहीं सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। उसके वाच्य को अनुभव में ले तो ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। अमल अर्थात् मलरहित—बिना राग का शुद्ध आत्मा सार है, वह परम है, उसके ध्यान द्वारा आत्मा जिनेन्द्र परमात्मा होता है। पर का लक्ष्य छोड़कर स्वलक्ष्य की ओर झुके बिना कदाचित् भी सच्ची प्रतीति-ज्ञान-स्थिरता नहीं होती।

बहुत से लोग कहते हैं कि सब कुछ भूलकर बस शून्य हो जाना ध्यान है, किन्तु भीतर सम्पूर्ण, अनन्त गुणों से परिपूर्ण आनन्दकन्द परमात्मा शोभायमान है, उसका तो भान नहीं, तो ध्यान किसका? ध्यान में सर्वथा शून्यता नहीं, किन्तु विभावों के अभाव की अपेक्षा से शून्यता कही है। निज स्वभाव से भरपूर और परभावों से शून्य (रहित), ऐसे शुद्ध आत्मा में समा जाना ध्यान है और वह मोक्षमार्ग है। ध्यान में अपने आपको भूला नहीं जाता किन्तु आत्मा स्वयं अपना साक्षात् अनुभव करता है। शून्य अर्थात् परभाव से रहित, और अपने स्वभाव से परिपूर्ण ऐसे आत्मस्वभाव में पर्याय को समा देना-लीन करना-अभेद करना मोक्षमार्ग है।

राग का स्थान बन्धमार्ग में है, मोक्षमार्ग में नहीं

निजस्वरूप में स्थिरतारूप मोक्षमार्ग वीतराग है, उसमें राग का अभाव है। राग को वीतरागमार्ग में स्थान नहीं है; उसका स्थान तो बन्धमार्ग में है और वाणी तो पृथक् ही है। भगवान ने वाणी का और राग के ध्यान का उपदेश नहीं दिया, शुद्धात्मा के ही ध्यान का उपदेश दिया है। ऐसा उपदेश झेलकर भव्य जीवों ने उसका ध्यान किया और मोक्ष प्राप्त किया।

ज्ञानी के जो शुभ विकल्प हैं, वे तो बन्ध का कारण हैं, वे मोक्ष के कारण नहीं हैं; उस समय उसके जो रागरहित शुद्धज्ञानदशा वर्तती है, वही मोक्ष का कारण है। निश्चय के साथ व्यवहार होता है, परन्तु मोक्षमार्ग, व्यवहार के आश्रित नहीं है। उस समय निश्चय स्वभाव के आश्रय से जितनी शुद्धता प्रगट हुई, उतना ही मोक्षमार्ग है, वह तो वीतराग है।

अहो! अनन्तानन्त तीर्थकरों द्वारा कथित और साधित यह वीतरागमार्ग है, जिसे कुन्दकुन्दादि वीतरागी आचार्य भगवन्तों ने स्वानुभवपूर्वक प्रसिद्ध किया है, उससे विपरीत मार्ग मानना मिथ्यात्व है, उसमें तीर्थकरों का अनादर होता है।

विदेहक्षेत्र और सीमन्धरस्वामी-जीवन्तस्वामी

अभी विदेहक्षेत्र में भी तीर्थकर भगवान ऐसा ही वीतरागमार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। वर्तमान में लोग मानते हैं कि यह पृथ्वी इतनी ही नहीं परन्तु बहुत बड़ी है, इस भरतक्षेत्र के अतिरिक्त महाविदेहक्षेत्र आदि अन्य भी बहुत क्षेत्र हैं। अरबों मनुष्य महाविदेहक्षेत्र में बसते हैं, वहाँ केवलज्ञान के दिव्य तेज से प्रकाशमान चैतन्यसूर्य ऐसे सीमन्धरादि भगवन्त अपने स्वभाव में निमग्न विराज रहे हैं। करोड़ पूर्व की उनकी आयु है। यहाँ जब (अरबों वर्ष पहले) बीसवें मुनिसुव्रत भगवान हुए थे उस समय विदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान ने मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था, वे तीर्थकररूप में अब भी यहाँ विचरते हैं और समवसरण में धर्मोपदेश देते हैं। इन्द्र, गणधर और चक्रवर्ती वहाँ सुनने-समझने को आते हैं और अभी अरबों वर्षों तक वह अरिहन्त पद में रहेंगे; जब यहाँ आगामी चौबीसी में

बारहवें तीर्थकर होंगे, तब वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

देखो! विदेहक्षेत्र है, तीर्थकर हैं, समवसरण है, दिव्यध्वनि खिरती है, वहाँ अन्य शाश्वत जिनालय-मन्दिर हैं। यह सब स्पष्ट हैं, और 'प्रत्यक्ष' हुआ है। सीमन्धर भगवान को अनन्त उपकारी ऐसा केवलज्ञान प्रगट हुआ है। भक्त कहते हैं कि प्रभो! आपकी वाणी तो उपकारी है और आपका केवलज्ञान भी अनन्त उपकारी है।

भगवान को कोई भय या दोष नहीं, वे वीतराग हैं, ज्ञान में रत हैं। ऐसे सीमन्धर भगवान विदेहक्षेत्र में विराजते हैं। उनकी वाणी सुनने इस भरतक्षेत्र के महान आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे; उन भगवान की वाणी साक्षात् सुनकर कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसारादि शास्त्रों द्वारा भरतक्षेत्र में भगवान की वाणी का घोष प्रसारित करते हुए मोक्षमार्ग प्रशस्त किया। सीमन्धर भगवान विदेहक्षेत्र के जीवन्तस्वामी हैं। वर्तमान तीर्थकररूप में विराज रहे हैं, उनका महान उपकार है। *बयाना (भरतपुर) में उनकी पाँच सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतिमा है; (*पूज्य श्री कानजीस्वामी संघ सहित वहाँ गये थे, उस प्रसंग के महत्वपूर्ण विवेचन हेतु देखो आत्मधर्म अंक २९४)।

वर्तमान की लौकिक भूगोल की मान्यता जैसी ही दुनिया नहीं है, दुनिया तो बहुत बड़ी है। 'विद्यमान जिन उत्तं'—ऐसा कहकर श्री तारणस्वामी ने भी विदेहक्षेत्र आदि का उल्लेख किया है। वहाँ सीमन्धर स्वामी करोड़ों-अरबों वर्षों से केवलज्ञान में विराजे हैं और अभी अरबों वर्षों तक देह सहित विचरेंगे। पश्चात् देहरहित सिद्ध हो जायेंगे।

‘ममल पाहुड़’ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि ‘जो अतीन्द्रिय आत्मा में रमण करते हैं, वे ही वीतरागरूप रत्नत्रय-धर्म में रमण करते हैं। भीतर आत्मा की शक्ति का प्रकाश हो गया है, वे निर्मल हो गये हैं। उनको आनन्दामृतरस का स्वाद आ गया है। वे आत्मा को प्रत्यक्ष देखते हुए मुक्तिपद में स्वयं चले जाते हैं। जो हितकारी अनन्त ज्ञान का प्रकाश है, उसमें रमण करते हुए अनन्त सहकारी गुण सदा प्रगट रहते हैं; उनके भय, शल्य व शंका सब विला गये हैं, वे अनन्त स्वभाव के धारी अरिहन्त-जिन सिद्धभाव को प्राप्त हो जाते हैं। श्री अरिहन्त का स्वभाव अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शनस्वरूप हैं, वे अपने ज्ञान में मग्न हैं, वे ही सूर्यसम प्रभावान हैं। जैसा वर्तमान में विदेहक्षेत्र में रमण करनेवाले श्री सीमन्धर आदि बीस तीर्थकरों ने कहा है, उनकी वाणी के अनुसार ही वे सिद्धस्वभाव में लीन हैं।’

**सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा में भी
कैसी दृढ़ता होती है!**

देखो! यह सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप! ऐसी दशा में विराजमान परमात्मा ही सच्चे देव हैं। जिसको सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की पहिचान नहीं, आत्मा का ज्ञान नहीं और मिथ्यात्वपोषक कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का सेवन करता है, वह जीव मिथ्याभाव के सेवन से कुगति में भ्रमता है। कुगुरुओं द्वारा बताया विरुद्ध मार्ग विश्वास करने योग्य नहीं है। लोकलाज से, बड़प्पन की आशा से, भय से अथवा लालच से अथवा पूर्व के परिचय के कारण भी, कुगुरुओं द्वारा बताया गया मार्ग सेवन करने योग्य नहीं। वीतराग सर्वज्ञदेव

का भक्त वीतरागता-पोषक सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लिये अर्पण हो जाता है, उनसे विरुद्ध की स्वप्न में भी नहीं मानता; ऐसा निर्णय और ऐसी दृढ़ता व्यवहारश्रद्धा में समाती है और परमार्थ-श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) तो अन्तर में शुद्धात्मा के निर्णय से होती है।

जिसको व्यवहार-श्रद्धा भी सच्ची न हो और कहे कि हमको आत्मा का अनुभव है, तो यह मात्र मिथ्या-कल्पना है। आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव हो, वहाँ उससे सम्बन्धित व्यवहार भी सच्चा ही होता है। वीतराग के मार्ग में निश्चय में या व्यवहार में कोई गड़बड़ी नहीं चलती।

जैसा भावै वैसा होवै

परमात्मस्वरूप को जानकर बारम्बार ध्यान में उसकी भावना करने से जीव स्वयं परमात्मा होता है क्योंकि 'जैसा भावै वैसा हो जावै।' ध्यान द्वारा अन्तर की गुफा में गुप्त आत्मा को जो अनुभवगोचर करता है, वह जिनेन्द्र-भण्डार को गुप्त निधि प्राप्त कर, गुप्त मोक्षपद का स्वामी होता है।

आनन्दरस पीते-पीते सिद्धपद सधता है

आत्मा के अमृत का पान करते-करते सिद्धपद प्राप्त होता है और सिद्ध भगवान सदा उस आनन्दरस का पान करते हैं। यह बात गाथा ५०२ में श्री तारणस्वामी कहते हैं।

पीओसि परम सिद्धं पीवन्तो विमल ज्ञान सुद्धं च।

रहियो संसार सुभावं रहियो सरनि कम्म गलियं च ॥५०२॥

आत्मा के शुद्ध स्वभाव की धुन बारंबार अभ्यास करने योग्य

है। शुद्ध आत्मा के अनुभव द्वारा परम-अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का पान करते-करते मोक्षमार्ग और मोक्ष का साधन होता है। मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों आनन्दमय हैं। आनन्दरस पीते-पीते सिद्ध भगवन्तों ने मोक्ष का साधन किया और सदाकाल वे आनन्द-रस पीते हैं। अरे, मोक्ष तो पूर्ण आनन्द है, वह क्या दुःख द्वारा सधता है? आनन्द का साधन भी आनन्दरूप है। इससे कहते हैं कि हे भव्य जीवो! तुम ऐसे ज्ञानानन्द-अमृत का पान करो, इसके पान द्वारा संसार का अभाव होगा।

यह ज्ञानसुधा-रस किस भाँति पियें?—क्या, पानी जैसा हाथ का खोबा भरकर पियें?

तो कहते हैं कि भाई! तेरा हाथ तो मति-श्रुतज्ञान है, यह जड़ हाथ तेरा नहीं। अन्तरस्वभाव की श्रद्धा करके उसमें श्रुतज्ञान को एकाग्र करते हुए निर्विकल्प आनन्द-रस पिया जाता है अर्थात् अनुभव किया जाता है; ऐसे आनन्द का अनुभव ही ध्यान की सिद्धि है, यही भगवान के उपदेश का सार है। पुण्य-पाप तो संसाररूप विभाव है, उससे रहित ज्ञान-आनन्दरूप मोक्षस्वभाव है, उस मोक्ष की प्राप्ति हेतु निर्विकल्प आनन्दरस पीजिये।

सिद्ध के परिचय से शुद्ध आत्मा का परिचय होता है

श्री तारणस्वामी गाथा ५०३ में कहते हैं कि—

दिस्टंति तिहुवनग्रं देखंतो विमल कम्म मुक्कं च।

जितियं च तिविह कम्मं जितयंतो अनिष्ट कम्म बन्धानं ॥५०३॥

तीन लोक के अग्र भाग में विराजमान ऐसे सिद्ध भगवान के

स्वरूप का जो भव्य जीव मनन करता है अर्थात् उनको श्रद्धा-ज्ञान में लेता है, वह अपने वैसे ही शुद्धस्वरूप को देखता है और शुद्धस्वरूप के देखने से उसके कर्म छूट जाते हैं। शुद्धस्वभाव के अनुभव द्वारा त्रिविधि कर्मों को वह जीत लेता है; उसको कर्मबन्धन नहीं होता। ऐसा कहते हुए संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग बताया है। सिद्ध जैसे अपने शुद्धात्मा के भजन द्वारा ही संवर-निर्जरा-मोक्ष होता है।

चेतन अनूप अमूरत
सिद्ध समान सदा पद मेरो।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के शुद्धपने का अनुभव करता है। तीन लोक के शिखर पर (लोकाग्र में) अनन्त सिद्ध भगवान विराज रहे हैं और अतीन्द्रिय आनन्दरस पी रहे हैं। जहाँ एक हैं, वहाँ ही अनन्त सिद्ध हैं, किन्तु प्रत्येक की सत्ता-प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न है। सबका उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपनी-अपनी सत्ता में ही होता है। लोक के जितने प्रदेश हैं, ऐसे ही असंख्य प्रदेश प्रत्येक आत्मा के हैं और वे सब प्रदेश शुद्ध ज्ञान-आनन्दरस से भरे हुए हैं।—ऐसे आत्मा को सम्यग्दृष्टि अपने अन्तर में देखता है और ऐसे ध्यान से ही मोक्ष का साधन होता है; अतएव वह सार है।●●

[१४]

चौदहवाँ प्रवचन

शुद्ध कार्य का कारण भी शुद्ध होता है, अशुद्ध नहीं

[वीर सं० २४८९, आश्विन शुक्ला १]

श्री तारणस्वामी रचित उपदेश शुद्धसार में मोक्षमार्ग-अधिकार की गाथायें पढ़ी जा रही हैं। भगवान का जो शुद्ध उपदेश है, उसका सार क्या है, अथवा सच्चा मोक्षमार्ग क्या है-उसका यह वर्णन है। भगवान के शुद्धस्वभाव का ग्रहण करने को कहा है और वही मोक्षमार्ग है - ऐसा गाथा ५०४ में कहते हैं:—

लेतं सुद्ध सहावं लेयंतो विमल कम्म गलियं च।

कलितं अप्प सहावं कलयंतो सुद्ध कम्म गलियं च ॥५०४

शुद्धस्वभाव ग्रहण करने योग्य है। इस शुद्धस्वभाव का ध्यान करने से कर्म गलते हैं। आत्मस्वभाव के बारम्बार अभ्यास से, बारम्बार चिन्तन से कर्मों का क्षय होता है। सर्व में सार शुद्धोपयोग है, यही कर्मक्षय का कारण है।

जिसकी रुचि, उसी का मंथन

देखो! इसमें एक ही बात बारम्बार आती है किन्तु यह तो भावना है; अतः उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। जिसको जिसकी रुचि होती है, वह बार-बार उसका मन्थन करता है,

उसमें उसको अरुचि नहीं लगती। यहाँ आत्मस्वभाव की रुचि है, वही प्रिय है, इसलिए पुनः-पुनः उसका स्वरूप-चिन्तन-मनन में लेकर अपनी भावना को पोषता है। शुद्ध आत्मा की भावना द्वारा भावशुद्धि प्रगट होती है, वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा के शुद्ध स्वभाव का वर्णन

समयसार, प्रवचनसार आदि में अलिंगग्राह्य आत्मा का वर्णन कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अलौकिक शैली से किया है। उसका अनुसरण करके ज्ञानसमुच्चयसार (गाथा ७७४) में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से असंख्य प्रदेशी चैतन्यस्वरूप जीव में कोई शब्द नहीं। ऐसा कोई इन्द्रियगम्य चिह्न उसमें नहीं कि जिसके द्वारा शुद्ध जीव को ग्रहण किया जा सके। उसमें हलन-चलनादि कोई क्रिया नहीं। उसकी उत्पत्ति नहीं, नाश नहीं, सदा एकरूप परमशुद्धस्वरूप है। द्रव्यस्वभाव अपेक्षा से वह निष्क्रिय है, उसमें स्वाभावपर्यायरूप क्रिया अथवा विभाव-पर्यायरूप क्रिया है, यह पर्यायनय का विषय है। शुद्धनय ऐसे अबद्धस्पृष्ट शुद्ध आत्मा को देखता है, अनुभवता है और वही सम्यग्दर्शन है, इसका वर्णन समयसार में किया है। यहाँ गाथा ७७५ में भी श्री तारणस्वामी कहते हैं कि जीव स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दरहित अमूर्तिक है तो भी अरूपी चेतना के निर्मल आकार को वह धारण करता है। चैतन्य-चिह्न द्वारा वह साक्षात् अनुभव में आ सकता है। अतएव स्व-सन्मुख होकर ऐसे आत्मा को ग्रहण करने का उपदेश है। 'सुद्ध सहावं लेतुं' अर्थात् शुद्धस्वभाव को लो, ग्रहण करो, अनुभव करो।

शुद्ध आत्मा लेतं, राग आतं परन्तु लेतं नहीं

जगत में जीव, परमाणु आदि छह द्रव्य हैं। जीव-पुद्गल

संख्या में अनन्त हैं। ऐसे अनन्त द्रव्यों में से अपने जीव को अन्तर में अनन्त गुण के एक पुंज के रूप में देखना अर्थात् अनुभव में लेना चाहिए। ऐसे शुद्ध आत्मा का ग्रहण करने से ही शुद्धपर्यायरूप मोक्षमार्ग अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। उसमें कहीं शरीर की सहाय नहीं, विकल्प की सहाय नहीं। शुभ विकल्प आये, वह भी मोक्षमार्ग में नहीं; उसका स्थान बन्धमार्ग में है। वह आतं (आता है) परन्तु लेतं (लेने योग्य) नहीं - ग्रहण करने योग्य नहीं; ग्रहण करने योग्य अनन्त गुणरूप शुद्ध आत्मा ही है।

रागादि विकार, स्वभाव से बाह्य है, व्यक्त है, प्रगट है; वह स्वभाव, राग के समय भी भीतर गुप्तस्वरूप (अव्यक्त) शुद्ध निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप है, उसको उपादेय मानना, उसमें पर्याय को एकाग्र करना, वह मोक्षमार्ग है। निश्चयरत्नत्रयधारी मोक्षमार्गी भावलिंगी दिगम्बर सन्त मुनि को भी जितना राग-अंश है, उतना बन्धभाव है-अशुद्ध है, वह राग-अंश मोक्ष का कारण नहीं। भीतर शुद्ध स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप निर्मल वीतराग-अंश ही सच्चा मोक्षमार्ग है। अहो! ऐसे स्वाश्रित (निरपेक्ष) मोक्षमार्ग को, हे जीव! तू जान तो सही। ऐसे मोक्षमार्ग को जानने से ही तेरी राग में आत्मबुद्धि छूट जायेगी। मुनियों की दशा में जो राग है, वह भी जहाँ उपादेय नहीं अथवा मोक्ष का कारण नहीं, वहाँ अन्य साधारण राग की तो बात क्या ?

देखो! यह जिनोक्त तत्त्व! वीतराग-कथित तत्त्व तो वीतराग भाव का ही पोषक होता है.. और वीतराग का तत्त्व कहो या आत्मा के स्वभाव का तत्त्व कहो - यही आत्मा का सच्चा स्वरूप है।

जिनरंजन और लोकरंजन

जिन भगवान का कहा हुआ मार्ग और अन्यो के कहे मार्ग— यह सब एक जैसे नहीं, दोनों बिलकुल भिन्न हैं। 'जिनरंजन' का और लोकरंजन (जनरंजन) का मेल नहीं खाता। जिनोक्त तत्त्व पृथक् है और लौकिक जन जो मान रहे हैं, वह पृथक् है। जिनदेव-कथित मार्ग तो अन्तर में स्वसन्मुखता का है, वह कोई लोकरंजन के लिये नहीं है। लोकरंजन द्वारा निरंजन नहीं हो पाते। लोकजन तो बावले हैं, लोकरंजन करें तो जिनरंजन नहीं होता। जनरंजन में जो अटक गये हैं, वे तो जिनोक्त तत्त्व को भूल गये हैं। राग से परे विज्ञानमय जिनोक्त तत्त्व है, उसको जो नहीं जानता, वह जनरंजन के लिये राग का अनुमोदन करता है, किन्तु जिनरंजन करनेवाला अर्थात् जिनमार्ग को जानकर उसकी रुचि करनेवाला लोकरंजन के लिये रुकता नहीं है। उपदेश शुद्धसार, गाथा ११७ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

जिन उक्तं नहु दृष्टं, जन उक्तं रंजनस्य सद्भावं ।

ज्ञान विज्ञान न रुचियं, अज्ञानं-अनुमोय ज्ञान विरयति ॥

विपरीत मार्गों में लगे अनेक प्रकार के रागी-अज्ञानी जीव, जिनेन्द्र भगवान कथित तत्त्वों के ऊपर दृष्टि नहीं करते और जनरंजन में अर्थात् जिनसे लौकिक जनता रंजायमान होती है, ऐसे बाह्य भावों में लगे हैं, उनको लोकोत्तर-आत्मज्ञान रुचता नहीं है और अज्ञान की अनुमोदना करके ज्ञान की विराधना करते हैं। ऐसे जीव कुगुरु की शरण लेकर संसार में ही भ्रमते हैं। ऐसे कुमार्ग को छोड़कर, हे जीव! तुम जिनवर कथित मोक्षमार्ग की अनुमोदना

करो, उसकी आराधना से शुद्धात्मा को प्रसन्न करो। अज्ञानी लोगों को प्रसन्न करने के प्रति अज्ञानी का लक्ष्य है, किन्तु जिसमें अपना हित हो, ऐसी आत्म-प्रसन्नता (-आत्मा की आराधना) पर उसका लक्ष्य नहीं है। ऐसे जीवों को रागस्वभावी कहा है अर्थात् अज्ञान के लिये वह राग में ही रचा-पचा रहता है, किन्तु वीतरागमार्ग का आराधक राग की रुचि नहीं करता।

आत्मा केवलज्ञान की अनन्त किरणों से परिपूर्ण चैतन्यसूर्य है, उसकी श्रद्धा-उसका ज्ञान जो नहीं करता और रागादि को धर्म मानकर अज्ञान का अनुमोदन करता है, वह जीव, धर्म का त्याग करके अधर्म का सेवन करता है। जैनदर्शन में सर्वज्ञ परमात्मा ने जो उपदेश दिया है, उसके साथ अज्ञान-मतों का मेल नहीं हो सकता, प्रकाश के साथ अन्धकार की तुलना नहीं हो सकती; अतः अपने हित लिये मुमुक्षु जीवों को सर्वज्ञ के उपदेशानुसार आत्मा का स्वरूप जानकर उसका सेवन करना चाहिए।

शुभाशुभराग को मोक्षमार्ग मानना अज्ञान है

आगे ५०५ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि इन्द्रियों से अगोचर आत्मा को अतीन्द्रियज्ञान द्वारा लक्ष्यगत करके उसका अनुभव करो:—

लक्ष्यंतु अलख लखियं लक्ष्यंतो लोपालोय विमलं च ।

अनुमोय विज्ञान ज्ञानं अनुमोय विसुद्ध कम्म गलियं च ॥

मन-वचन-काय से जो जाना नहीं जा सकता हो, विकल्प से जिसे नहीं जान सकते हों, ऐसे अलक्ष्य शुद्धात्मा को ज्ञान द्वारा लक्षित करके अनुभव करने योग्य है, उसके अनुभव से लोकालोक

प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। भेदविज्ञानपूर्वक ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा के अनुभव से परम आनन्द होता है और कर्म नष्ट होते हैं। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव ही मोक्षमार्ग है, यह बात बारम्बार घोट-घोटकर स्पष्ट की है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ-राग को मोक्षमार्ग मानना अज्ञान है, कुमार्ग है। शुभराग ज्ञानी को आता है और अज्ञानी को भी आता है; ज्ञानी उसको मोक्षमार्ग नहीं मानता, अज्ञानी उसे ही मोक्षमार्ग मानकर सच्चे मोक्षमार्ग से विमुख रहता है।

आत्मा के स्व-देश में रहे, उसे सच्चा देशव्रत होता है

आत्मा का वास, आत्मा के रहने का स्थान तो अपने स्वभाव में ही है। ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ४८३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि 'देसो सुद्धसहाओ...' आत्मा का शुद्धस्वभाव ही आत्मा का स्वदेश है। शुद्धज्ञान-दर्शन से भरे अपने देश में बसना अर्थात् लीन रहना, परमार्थ देशव्रत और महाव्रत है। ज्ञान-दर्शन स्वभाव से भरे असंख्य प्रदेशी अपने देश से बाहर (रागादि में-देहादि में) रहना जो माने, उसे सच्चे देशव्रतादि नहीं होते, वह तो परभावरूपी परदेश में रहता है। अनन्त सुख का धाम असंख्यप्रदेशी चैतन्यस्वरूप ही धर्मी का सच्चा रहने का स्थान है, उसमें एकाग्रता से श्रावकपना और मुनिपना होता है। जहाँ असंख्यप्रदेशी निर्विकल्प चैतन्यधाम में लीन हुआ, वहाँ ऐसी क्षेत्र-मर्यादा हो गयी कि मेरे इस असंख्यप्रदेशी स्वभाव से बाहर न निकलूँ। रागादिक भाव भी निश्चय ही स्व-प्रदेश की वस्तु नहीं है। स्व-प्रदेश तो ज्ञान-आनन्दरूप निर्मल स्वभावों से भरा है। ऐसे स्वदेश में बसने से जीव सुखी होता है।

शुद्ध कारण-कार्य

ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ८०-८१ में शुद्ध कारण-कार्य की बात कही है। शुद्ध कार्य की उत्पत्ति शुद्ध कारण से होती है। मोक्ष पूर्ण शुद्ध कार्य है और शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसका कारण है, ऐसे शुद्ध कार्य-कारण को जानकर मोक्षार्थियों को उसका उद्यम करना चाहिए? रागादि अशुद्धभाव, शुद्ध कार्य का कारण नहीं हो सकते। अशुद्ध कारण के सेवन से शुद्ध कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कारण के अनुसार कार्य होता है, कारण और कार्य एक जाति के होते हैं। उपदेश शुद्धसार की ५३५ वीं गाथा में भी कहते हैं कि जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है (शुद्ध कारण-कार्य की बात अष्ट-प्रवचन प्रथम भाग में आ गई है।)

आत्मा में सम्यक्त्व का प्रकाश होते ही शुद्ध-अशुद्ध सभी तत्त्वों की परीक्षा हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव, कौन तत्त्व विभावरूप हैं, उनको पहिचानकर विभाव को छोड़ता है। जितने रागादि अशुद्धभाव हैं, वे सभी विभाव हैं; वे मोक्षमार्ग नहीं। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान-आचरणरूप जो शुद्धभाव हैं, वे स्वभाव हैं और वे मोक्षमार्ग हैं, मोक्ष का वह शुद्ध कारण है।

स्वानुभव द्वारा अलख को लखने की बात

यहाँ (गाथा ५०५ में) अलख आत्मा को लखने की (अनुभव करने की) बात चलती है। अलख को किस प्रकार लखना? तो कहते हैं कि स्वानुभव में लखना चाहिए। आत्मा इन्द्रियों से अलख-अगोचर होते हुए भी स्वानुभव से लक्ष्यगोचर होता है। जो स्वानुभव से लक्ष्यगोचर होता है, ऐसा न हो तो 'आत्मा अलख है' ऐसी जानकारी कहाँ से होगी? अतः सर्वथा अगोचर नहीं है। उसके

अनुभव की जो रीति है, उस रीति के द्वारा वह स्वानुभव-गोचर है। अतएव लक्ष्यंतु-अन्तर्मुख ज्ञान से लक्ष्यगत करके आत्मा का अनुभव करो। इस प्रकार अलख को लखते हुए लोकालोक भी जानने में आ जाता है। अलख आत्मा को अनुभव में लेने से मोक्षमार्ग होता है और उसके फल में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान होता है। यह कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं। शुद्धोपयोग कारण, केवलज्ञान कार्य, इनके बीच राग नहीं है। राग से रहित ऐसे वीतरागी भेदज्ञान से आनन्द का अनुभव होता है। आनन्द के अनुभव का लाभ होने से कर्म गल जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट होता है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का नाश शुद्धोपयोग से होता है। ऐसे शुद्धोपयोग का उपदेश है। रागादि अशुद्धभाव से शुद्धता की प्राप्ति होना कहे वह अशुद्ध उपदेश है, वह उपदेश शुद्ध नहीं-सच्चा नहीं।

भावना

सम्यग्दृष्टि अन्तर में अपने शुद्ध आत्मा को देखकर बारम्बार उसकी भावना करता है। शुद्धता की भावना बारम्बार करने में कोई पुनरुक्ति दोष नहीं लगता। यह भावना तो बारम्बार करने योग्य है। कहा है कि—

भावयेत् भेदविज्ञानम् इदमच्छिन्न धारया ।
तावत् यावत् परात्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥

अहो! शुद्धात्मा के अनुभवरूप शुद्ध मोक्षमार्ग भगवन्तों ने प्रसिद्ध किया है। ऐसे मोक्षमार्ग से ही जगत का कल्याण है। कथन भले अनेक प्रकार से हो किन्तु शुद्ध मोक्षमार्ग एक ही प्रकार का है। अलग-अलग दो प्रकार का मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसे शुद्ध मोक्षमार्ग

को जानकर, उसके कारणरूप भेदविज्ञान की भावना बारम्बार करना चाहिए।

**बुद्धिमान मुमुक्षु अपने शुद्धकार्य हेतु
शुद्ध कारण को (शुद्ध उपयोग को) सेवता है**

(उपदेश शुद्धसार) गाथा ५४९ में कहते हैं कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। कारणरूप शुद्ध उपयोग से कार्य की-मोक्ष की उत्पत्ति होती है। पराश्रय से वीतरागभाव नहीं होता किन्तु राग ही होता है। दूसरी ओर का उपयोग अशुद्ध उपयोग है। स्व-द्रव्य में उपयोग शुद्ध उपयोग है। शुद्ध उपयोग से ही राग का नाश होकर केवलज्ञान प्रगट होता है। इस प्रकार शुद्धस्वभाव की ओर का उद्यम ही निर्मल कार्य का कारण है। यह कारण और कार्य दोनों शुद्ध हैं।

कारण-कार्य के सम्बन्ध में जैनदर्शन का यह निश्चल सिद्धान्त है, अर्थात् वस्तुस्वरूप ऐसा है कि कारण और कार्य दोनों एक जाति के होते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण में से स्वर्ण-आभूषण होते हैं, लोहे में से स्वर्ण-आभूषण नहीं होते; उसी प्रकार शुद्ध कारण के सेवन से शुद्धकार्य होता है, अशुद्ध कारण के सेवन से शुद्धकार्य नहीं होता। राग के सेवन से वीतरागता नहीं होती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा-स्वाध्याय आदि व्यवहार शुभराग है अवश्य, किन्तु वह शुभराग 'लेतं' नहीं, 'हेयं' है, अर्थात् वह उपादेय नहीं किन्तु हेय है - ऐसी श्रद्धा करना चाहिए। उपादेयरूप शुद्ध आत्मा ही है, उसके आश्रय से ही संवर-निर्जरा और मोक्ष होता है। अतएव बुद्धिमान मुमुक्षु अपने शुद्ध कार्य के लिये सदैव ऐसे शुद्ध कारण का सेवन करते हैं।

पंचम काल में मोक्षमार्ग कैसा है ?

भगवान के शुद्ध मार्ग में अशुद्धता नहीं मिलती। वह तो वास्तविक बुद्धिमान (भेदज्ञानी) है कि जो शुद्ध-अशुद्ध भावों का पृथक्करण करके सदैव शुद्ध कारण का सेवन कर मोक्षमार्ग का साधन करता है और बीच में कभी रागादि कारणों को मोक्षमार्ग में मिलाता नहीं। सदैव एक शुद्ध मार्ग है, उसमें अशुद्धता का अंश भी नहीं है। मुमुक्षुओं को इस पंचम काल में भी मोक्षमार्ग के लिये शुद्ध कारण का ही सेवन करना चाहिए। पंचम काल है, इसलिए राग मोक्षमार्ग हो जाये, ऐसा कभी होगा नहीं।

जिस प्रकार पंचम काल में भी मुनिदशा वस्त्रसहित नहीं होती; कोई माने भले, किन्तु वीतरागमार्गी मुनिवरों की दशा तो तीन काल में अचल-दिगम्बर ही होती है; वैसे ही मोक्ष का मार्ग तीन काल में शुद्धतारूप ही है, उसमें रागादि अशुद्धभाव का मेलजोल नहीं है। अशुद्ध रागादि को कोई मोक्षमार्ग भले मान ले, परन्तु उससे वह मार्ग थोड़े ही हो जायेगा। सीमन्धर भगवान आदि तीर्थकर भगवन्त अभी इस जम्बूद्वीप में विराज रहे हैं, वे भी ऐसे ही मोक्षमार्ग का उपदेश कर रहे हैं। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ' (अर्थात्) तीनों काल में एक ही मोक्षमार्ग है।

ज्ञान का सार-शुद्धात्म-भावना.... उसके बिना सभी व्यर्थ

ज्ञान का सार यह है कि प्रथम शुद्ध आत्मा की भावना से भावशुद्धि प्रगट करना चाहिए, और अशुद्धभाव (शुभ-अशुभ दोनों) छोड़ना चाहिए। शुद्धभाव के बिना सभी व्यर्थ है। छहढाला में भी पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि—

मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।

मोक्षमार्ग श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप है। पहले श्रद्धा सुधरे बिना आचरण कहाँ से सुधरेगा? सम्यग्दर्शन बिना व्रत-त्याग, ये सभी मोक्षमार्ग के लिये निष्फल हैं, क्योंकि उनमें शुद्धता का अंश भी नहीं है। अतएव पहले शुद्धात्मा की श्रद्धा करो और अशुद्धता की उपेक्षा करो। पुण्य का राग भी अशुद्धता है। जिसको पुण्य की रुचि है, उसको आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। अज्ञानी राग के उपभोग को ही अपना मानता है, ज्ञानी का उपभोग बिना राग का शुद्धभावरूप है, वह अतीन्द्रिय आनन्दरूप है।

जीव के परिणामों से बन्ध-मोक्ष होता है; अशुद्ध परिणाम से बन्ध और शुद्ध परिणाम से मोक्ष होता है। इसके अतिरिक्त अन्य से जीव को बन्ध-मोक्ष होता नहीं। अन्य कोई इस आत्मा को बाँधे या मुक्त करे - ऐसी मान्यता तो ईश्वर को जगतकर्ता मानने जैसा मिथ्यात्व है। जिस प्रकार परमेश्वर जगत का कर्ता नहीं है; उसी प्रकार अन्य कोई इस आत्मा के बन्ध-मोक्ष का कर्ता नहीं है; वैसे ही यह आत्मा दूसरे का कर्ता नहीं है। भाई! तेरे अशुद्ध परिणाम जैसे तू करेगा, उसके अनुसार ही तेरी मुक्ति या बन्धन होता है। तेरे परिणाम को परवस्तु सुधारती या बिगाड़ती नहीं है। शुद्ध आत्मा की सन्मुखता से तेरे परिणाम सुधरने से (अर्थात् शुद्ध होने से) मोक्षमार्ग प्रगट होता है; इसलिए अपने भावश्रुत को शुद्ध आत्मा में लगा। यही भगवान के उपदेश का सार है और यही मोक्षमार्ग है। ●●

[१५]

पन्द्रहवाँ प्रवचन

शुद्धज्ञान को जानना जिनोपदेश का सार है

*[वीर सं० २४८९, आश्विन शुक्ला ३]

‘उपदेश शुद्धसार’ अर्थात् सर्वज्ञ भगवान द्वारा किये गये वीतरागी उपदेश का सार क्या है ? उसकी यह बात है । सर्वज्ञ की वाणी-अनुसार ज्ञानी का उपदेश कैसा होता है ? उसमें शुद्धात्मा का स्वरूप क्या कहा है ? आत्मा का स्वतत्त्व क्या है और परतत्त्व क्या है ? उसका ज्ञान सर्वज्ञ-वाणी के अनुसार करने से आत्मा का ज्ञान होता है । श्री तारणस्वामी कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान जिससे हो, ऐसा उपदेश देना चाहिए । उपदेश शुद्धसार की गाथा ५०६ कहते हैं कि—

जानंति ज्ञान विमलं, जानंतो अप्य परमप्य कम्म गलियं च ।
कहंतु विमल ज्ञानं, कहयंतो ज्ञान विज्ञान स सहावं ॥

शुद्ध आत्मज्ञान को जानना चाहिए । आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है -ऐसा जानने पर, उससे विरुद्ध अशुद्धता क्या है ? और वह अशुद्धता कैसे हुई ? - उसका ज्ञान भी आ जाता है । आत्मा के स्वभाव में

* आश्विन शुक्ला १ को चौदहवाँ प्रवचन हुआ, उसके पश्चात् आश्विन शुक्ला ३ को पन्द्रहवाँ प्रवचन हुआ । बीच में आश्विन शुक्ला २ को समयसार गाथा १४४ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन हुआ, जिसका सार इस पुस्तक के परिशिष्ट में ‘सम्यग्दृष्टि की रीति’ शीर्षक से दिया है ।

रागादि अशुद्धता नहीं, किन्तु पर्याय में अपने दोष से अशुद्धता होती है; वह किसी अन्य ने अथवा कर्म ने नहीं करायी – ऐसा जाने, उसे ही शुद्धता और अशुद्धता का वास्तविक भेदज्ञान होता है।

आत्मा का शुद्ध ज्ञानस्वभाव और रागादि अशुद्धता, यह दोनों अलग हैं। पर्याय में रागादि अशुद्धता और कर्म आदि परद्रव्य, यह दोनों अलग हैं। इस भाँति शुद्ध स्वभाव, क्षणिक अशुद्धता और परवस्तु, इन तीनों को जानकर भेदज्ञान करना चाहिए। ऐसा भेदज्ञान करना सर्वज्ञ भगवान के उपदेश का सार है।

आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान

आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान करने से कर्म गल जाते हैं। परमात्मा जैसा ही इस आत्मा का परमार्थ स्वभाव है— ऐसी पहिचान करे, तभी कर्म से भिन्न आत्मा का अनुभव होता है और कर्म गल जाते हैं। वाह! भेदज्ञान की भावना का श्री तारणस्वामी ने बारम्बार मन्थन किया है। ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास करने योग्य है।

आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावी होते हुए भी, उसकी पर्याय में अशुद्धता और आवरण है। वास्तविक आवरण अपने मिथ्यात्वादि भाव का है और निमित्तरूप से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का आवरण है। उन भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों की पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं। वास्तव में वह एक-दूसरे के कारण से नहीं होती। शुद्ध आत्मा को पहिचानने से ऐसा आवरण अर्थात् भावकर्म अथवा द्रव्यकर्म इन दोनों का विलय और विमल ज्ञान का प्रकाश होता है।

शुद्ध आत्मा का ज्ञान करो – ऐसा कहे, किन्तु उस समय अपनी पर्याय में अशुद्धता कितनी है? उसका कारण क्या है? और

वह कैसे दूर हो सकती है ? इसका भी बराबर ज्ञान होना चाहिए, उसमें विपरीतता हो तो सच्चा ज्ञान नहीं होता। पर के कारण आत्मा की अशुद्धता होना माने तो उसको आत्मा की शुद्धता या अशुद्धता एक का भी सच्चा ज्ञान नहीं है। जिस प्रकार स्वद्रव्य और परद्रव्य दोनों अनादि से भिन्न हैं, उसी प्रकार दोनों की परिणति भी बिल्कुल भिन्न, अपने-अपने कारण से स्वतन्त्र होती है। रागादि अशुद्धता आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं, किन्तु स्वरूप से विपरीत भाव है, इसलिए उसको 'अनात्मा' कहा जाता है, उस अनात्मा के परिहार से आत्मा की सिद्धि होती है, अर्थात् दोनों का स्वरूप पहिचानकर भेदज्ञान करने से ही आत्मा का सच्चा अनुभव होता है।

रागादि अनात्मा को अनात्मा की भाँति जो नहीं जानता, उसको आत्मा का भी ज्ञान नहीं और जिसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं, उसे अनात्मा का भी ज्ञान नहीं, वह तो रागादि को भी धर्म का कारण मानता है, अनात्म-भावों को ही आत्मा मानता है और आत्मा-अनात्मा को एक जैसा देखता है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं। जिसको आत्मा-अनात्मा की भिन्नता का भान नहीं हो, उसको भेदज्ञान कौन कहेगा ? यह बात समयसार के निर्जरा अधिकार में आचार्यदेव ने समझायी है। भगवान के उपदेश का सार तो यह है कि आत्मा और अनात्मा की भिन्नता जानकर, शुद्ध आत्मा का अनुभव करना। जड़ के या पर्याय के अशुद्ध अंश को ही जो आत्मा की भाँति अनुभव करता है और अखण्ड चिदानन्दरूप शुद्धतत्त्व की जिसको जानकारी नहीं है, उसने भगवान के उपदेश के सार को नहीं जाना है, उपदेश के रहस्य की उसको जानकारी नहीं। शुभराग के एक

अंश को भी शुद्ध ज्ञान के साथ मिलावे तो उसको आत्मा-अनात्मा का भेदज्ञान नहीं है। भगवान का उपदेश तो उपयोग का और रागादि अन्य भावों का सर्वथा भेदज्ञान कराता है।

जिनागम में ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है

सभी जीव सदैव ज्ञानस्वरूप हैं। 'सर्व जीव हैं ज्ञानमय'— इस प्रकार आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही देखना वीतरागी-समभाव का कारण है। निगोददशावाले जीव को भी ज्ञानादि के किसी अंश का उदय है तो वह अपने ही कारण से है, किन्तु इतने अल्प विकास जितना सम्पूर्ण आत्मा नहीं है। इस भाँति पर्यायदृष्टि छोड़कर, राग जितना अथवा अल्पज्ञता जितना ही अनुभव करना छोड़कर, ज्ञान-आनन्द स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा है - ऐसा अपने में पूर्ण स्वभाव को दृष्टि में और अनुभव में लेने से आत्मज्ञान होता है और उस आत्मज्ञान से कर्मों का नाश होता है। ज्ञान से ही कर्म झरते हैं; अन्य किसी उपाय से नहीं। अतएव जिनागम में ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है।

ज्ञान के विमल स्वभाव का उपदेश देना चाहिए और ध्यान में भी बारम्बार उसका अभ्यास करना चाहिए। पद्मनन्दीपच्चीसी में भी कहा है कि इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का जो बारम्बार अभ्यास करते हैं-कथन करते हैं-विचार करते हैं और सम्यक्त्वरूपेण भावना करते हैं, वे अल्प काल में ही नवकेवललब्धिस्वरूप, अक्षय-अनुपम-अनन्त सुखमय मोक्ष को पाते हैं। ऐसे आत्मा को जानकर बारम्बार उसकी भावना करने योग्य है।

'ज्ञानसमुच्चयसार' में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

रूवं भेयविज्ञानं नय विभागेन सहं सुद्धं ।

अप्य सरूवं णिच्छदि नय विभागेन साद्धं दिदुं ॥६६३॥

नय-विभाग द्वारा शुद्धरूप का श्रद्धान करना अर्थात् निश्चयनय द्वारा पर से विभाग करके अपने शुद्धस्वरूप का श्रद्धान अर्थात् भेदविज्ञान करना चाहिए। निर्मल दृष्टि नयविभाग द्वारा अपने स्वरूप को यथार्थ देखती है। अशुद्ध पर्याय आत्मा की है, ऐसा बतानेवाला व्यवहारनय अभूतार्थ है, वह शुद्ध आत्मा के स्वरूप को दिखाता नहीं है; निश्चयनय शुद्ध आत्मा के स्वरूप को दिखाता है, इसलिए वह भूतार्थ है। ऐसी भूतार्थदृष्टि से ही आत्मा का सच्चा स्वरूप पहिचान में आता है और सम्यग्दर्शन होता है। अतएव कहते हैं कि - निश्चयनय द्वारा स्व-पर का विभाग करके शुद्ध आत्मा को जानो और शुद्ध श्रद्धा करो। पर्याय में रागादि भाव हैं और कर्म-सम्बन्ध है, यह सब व्यवहारनय का विषय है, उनको उस नयविभाग से जानना और उससे भिन्न शुद्ध आत्मा को शुद्धनय से जानना। ऐसे नयविभाग से स्व-पर को भिन्न जानना जिनोपदेश का सार है और वह मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दर्शन की सरस रीति

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करने में किसी को अरुचि लगती है, परन्तु भाई! द्रव्य-गुण-पर्याय तो वस्तु का स्वरूप है। भगवान ने द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु कही है, उसको पहिचानना चाहिए। अहिरन्तदेव के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचानने से अपने आत्मा का स्वभाव भी पहिचान में आता है और सम्यग्दर्शन होता है, मोह मिटता है - यह बात प्रवचनसार की

८० वीं गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समझायी है। मोह का क्षय करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का ऐसा सरल उपाय, उसमें जिसको अरुचि लगे तो वह द्रव्य-गुण-पर्याय का सच्चा ज्ञान कहाँ से करेगा ? और उसके मोह का नाश कैसे होगा ? अरे भाई ! जैनदर्शन अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाते हुए मोह का नाश कराता है। इसलिए यथार्थ नयविभाग से स्व-पर सबको जान, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय को जान और स्व-पर को विभाजित करके आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अनुभव में ले।—यही मोह के नाश का उपाय है। आत्मा का निश्चयस्वभाव एक प्रकार का है और व्यवहार का अनेक प्रकार का है, उसके ज्ञान में जितनी विपरीतता हो, वह सब नयविभाग के ज्ञान से दूर करना चाहिए। द्रव्य-गुण-पर्याय के जानने में तो ज्ञान की स्पष्टता है और वह तो वीतरागभाव का कारण है।

निश्चयनय की दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वरूप को देखती है, जैसा शुद्ध स्वरूप है, वैसा निश्चयदृष्टि देखती है अर्थात् प्रतीति में लेती है। इसलिए कहते हैं कि शुद्ध निश्चयनय द्वारा अपने को शुद्ध वीतरागमय निश्चय करके उसी का ध्यान करना योग्य है; उसी से केवलज्ञान प्रगट होता है। साथ में भूमिका के अनुसार जो अशुद्धता आदि हो, उसे व्यवहारनय जानता है, किन्तु शुद्ध स्वरूप को देखने से वह अभूतार्थ है, शुद्धस्वरूप के अनुभव में वह नहीं आता। निश्चयनय से जो अनुभव में आता है, वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, वह असली स्वरूप है। उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध तत्त्व का यथार्थ उपदेश देता है

अपने लिये जो वस्तु लेना है, उसको पहिचानना तो चाहिए

न ? पहिचान के बिना कौनसी लेंगे और कौनसी छोड़ेंगे ? अज्ञानी जीवों ने तो ज्ञानस्वरूप आत्मा के बदले राग लेकर उसे ही धर्म मान लिया, राग को ही आत्मा का सच्चा स्वरूप मान लिया, तो वह जीव, राग को कैसे छोड़ेंगे ? और रागरहित शुद्ध आत्मा को किस प्रकार अनुभव में लेंगे ? भाई ! तेरा सच्चा रागरहित स्वरूप क्या है - उसको पहिचान । वह ग्रहण करने योग्य है और रागादि अशुद्ध भाव छोड़ने योग्य हैं - ऐसा जान । दोनों का विषय जैसा है, वैसा पहिचाने बिना भेदज्ञान अथवा सच्ची श्रद्धा नहीं होती ।

सम्यग्दृष्टि जीव भेदज्ञान द्वारा स्व-पर तत्त्व का, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का, देव-गुरु-शास्त्र आदि का यथार्थ स्वरूप जानता है और जैसा भगवान ने कहा, वैसा ही वह उपदेश देता है । इस सम्बन्ध में 'ज्ञानसमुच्चयसार' (गाथा १६८-१६९ आदि) में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि - अविरत सम्यग्दृष्टि भी उपादेय गुणों का धारक होता है, उसका मतिज्ञान यथार्थ होता है और भव्य जीवों के लिये उसका उपदेश भी यथार्थ होता है । चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के व्रतादि नियम नहीं होने पर भी, जितने गुण मोक्षमार्ग में सहकारी हैं, उसे उनकी श्रद्धा है, उन्हें वह उपादेय समझता है और भव्य जीवों को उनका यथार्थ उपदेश देता है । आगे कहते हैं कि—'उपदेशं जिन उक्तं च...' जिनेन्द्र भगवान ने जैसा कहा है, वैसा शुद्धतत्त्व का यथार्थ उपदेश, वह अविरत सम्यग्दृष्टि देता है । वह अविनाशी समतारूप, शुद्ध आत्मतत्त्व का उपदेश करता है । उसकी वाणी में मिथ्या-उपदेश नहीं होता । एक बार कहा था कि अहो ! धर्मी के अन्तर में तीर्थकर विराजे हैं, अर्थात् धर्मी का उपदेश तीर्थकर का ही उपदेश है ।

सम्यग्दृष्टि का उपदेश 'शुद्ध' है, शुद्ध तत्त्व को दिखलानेवाला उसका उपदेश है। मिथ्यादृष्टि को तो अपने ही शुद्धतत्त्व की जानकारी नहीं तो वह शुद्ध तत्त्व का यथार्थ उपदेश कहाँ से देगा ? सम्यग्दृष्टि भले ही चौथे गुणस्थान में अविरतदशा में हो तो भी शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव उसको हुआ है, वह उपादेयरूप शुद्धगुणों से संयुक्त है, रागादि अशुद्ध भावों को जानकर उन्हें हेयरूप किया है, शुद्धात्मा से उन्हें पृथक् किया है और उसकी वाणी में भी ऐसा ही उपदेश आता है; इसलिए उसका उपदेश शुद्ध है।

जिस प्रकार आर्य मनुष्य कि जो कभी माँस-भक्षण न करता हो, उसकी वाणी में भी ऐसा उपदेश नहीं आ सकता कि 'माँस भक्षण करने योग्य है'—उसी प्रकार जिसने शुद्धात्मा को अनुभव में लिया है और उससे भिन्न रागादि परभावों को हेयरूप जाना है, उसकी वाणी में भी ऐसा उपदेश नहीं आता कि राग द्वारा जीव को लाभ होगा। शुद्धात्मा के ही आदर का उपदेश उसकी वाणी में आता है। वह राग को मोक्षमार्ग नहीं कहता। ऐसी दशा तो चौथे गुणस्थान में होती है। मुनिदशा की बात तो बहुत ऊँची है।

उस सम्यक्त्वी का मति-श्रुतज्ञान भले ही अल्प है परन्तु उसने स्व-सन्मुख होकर ऐसे शुद्धात्मा को अनुभव में ले लिया है। राग से पृथक् होकर जिस भावश्रुत से पूर्ण आत्मा को पकड़ा, उस भावश्रुत को भी पूर्ण कह दिया और उस जीव को श्रुतकेवली कहा। आत्मा के पूर्ण स्वभाव को जाना, उसमें बहुत-सा ज्ञान समा गया। 'जिसने आत्मा जाना उसने सर्व जाना' (श्रीमद् राजचन्द्र)। सर्वज्ञस्वरूप आत्मा को जानना ही सिद्धान्त का सार है।

सर्वज्ञस्वरूप आत्मा को जिसने जान लिया, मति-श्रुतज्ञान को अन्तर में ढालकर अपने सर्वज्ञ स्वभाव को जिसने स्वानुभव में लिया, उसके हृदय में विराजकर भगवान बोलते हैं, अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के अनुसार ही उसका उपदेश होता है। इसलिए इसमें ऐसा भी आया कि अविनाशी शुद्ध आत्मतत्त्व को जिसने जाना है, वही उपदेश देने का अधिकारी है। जिसने स्वयं अपने शुद्ध आत्मा को नहीं जाना, वह जीव शुद्ध आत्मा का उपदेश देने का अधिकारी नहीं; शुद्धात्मा यथार्थ उपदेश वह नहीं दे सकता।

सम्यक्त्वी को ही शुद्ध देव-गुरु और
तत्त्व की वास्तविक पहिचान है

जिसने राग से भिन्न हुए शुद्ध आत्मा को नहीं जाना, राग में ही जो पड़ा है, ऐसा राग में पड़ा अज्ञानी जीव, व्रत-तप करे या शास्त्राभ्यास करे, यह सभी उसे कष्टरूप है, उसमें क्वचित् भी ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव की अनुभूति का आनन्द नहीं है। राग में आनन्द कहाँ से हो? कष्टरहित अर्थात् राग की आकुलतारहित जो निजानन्द स्वभाव है, उसकी पहिचान के बिना आनन्द नहीं होता और कष्ट नहीं मिटता। सम्यग्दृष्टि के परिणाम में तो राग से परे आत्मा का अनुभव है, और उस आत्मा में एकाग्रतापूर्वक किये व्रत-तप में उसको क्लेश होता नहीं, किन्तु आनन्द की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवादि सात तत्त्वों के भिन्न-भिन्न स्वरूप को जानकर उसका यथार्थ उपदेश करता है।

अज्ञानी शुभ विकल्पों को धर्म का कारण मानता है अर्थात् शुभरागरूप आस्रव को वह संवर में मिला देता है। संवर, जो रागरहित है, उसे वह रागरूप मानता है; इसके अतिरिक्त शरीर की

क्रिया को मैं करता हूँ - ऐसा मानता है अर्थात् अजीव को जीव में मिलाता है, किन्तु जीव-अजीव को भिन्न नहीं जानता। इस प्रकार अज्ञानी, जीवादि तत्त्वों को विपरीत मानता है, इसलिए उसके उपदेश में विपरीतता होती है। इसी प्रकार जीवादि छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों को भी सम्यग्दृष्टि ही यथार्थ मानता है तथा उपदेश देता है।

सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकधर्म और मुनिधर्म कैसे होते हैं ? उस दशा में व्रत-महाव्रतादि कैसे होते हैं ? - उनको भी सम्यग्दृष्टि ही बराबर जानता है। अज्ञानी तो केवल राग को ही धर्म मानता है। राग के समय भी धर्मी की दशा में रागहीन जो शुद्धपरिणाम धारा बह रही है, उस शुद्धता को तो अज्ञानी पहिचानता नहीं। धर्मी को वह बाहर से देखता है किन्तु उसकी अन्दर की शुद्धता को वह नहीं देखता, अर्थात् धर्मी की वास्तविक पहिचान उसको नहीं होती। इसलिए कहा है कि जो देव-गुरु के आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाने तो उसे मिथ्यात्व नहीं रहेगा। देव-गुरु की यथार्थ पहिचान सम्यग्दृष्टि को ही होती है। अज्ञानी तो शरीर के गुणों को आत्मा में मिलाकर अरिहन्तादि को पहिचानना चाहता है, परन्तु अहिरन्तादि के आत्मा का जो यथार्थस्वरूप है, उसे वह नहीं पहिचानता; इसलिए वीतरागी देव-गुरु के शुद्धस्वरूप का सच्चा उपदेश भी वह नहीं दे सकता।

कोई भगवान के दर्शन-पूजन आदि के शुभराग में ही धर्म माने, अथवा उसका सर्वथा निषेध ही कर डाले, तो वह यथार्थ उपदेश नहीं है। शुभराग की जितनी सीमा हो, उतनी ही जानना चाहिए; शुद्ध देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप पहिचानना चाहिए।

वीतरागी देव-गुरु कैसे हैं और उनके द्वारा उपदेशित शुद्धतत्त्व का स्वरूप कैसा है - वह बराबर पहिचानकर, पहले ऐसे सम्यग्दर्शन का उपदेश देना चाहिए, क्योंकि वही धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् मुनिधर्म या श्रावकधर्म होता है; सम्यग्दर्शन के बिना तो कोई धर्म होता नहीं; इसलिए सम्यग्दर्शन का उपदेश मुख्य है।

मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व की प्रधानता

‘ज्ञानसमुच्चयसार’ की १७५ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि—

प्रथमं उपदेश सम्यक्त्वं शुद्ध धर्म सदा बुधेः ।

दर्शनज्ञानमयं शुद्धं सम्यक्त्वं शाश्वतं ध्रुवं ॥

बुद्धिमानों को सदा ही प्रथम, सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। शाश्वत ध्रुव दर्शन-ज्ञानमय आत्मा की श्रद्धा करना, सम्यग्दर्शन है। अपने हित के इच्छुक प्रत्येक जीव को श्रीगुरु प्रथम तो सम्यग्दर्शन का उपदेश देते हैं। आत्मा का यथार्थस्वरूप क्या है - उसे समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना, यह प्रथम कर्तव्य है, क्योंकि वही धर्म का मूल है। आत्मा के भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना निश्चयसम्यग्दर्शन है। ऐसा जहाँ सम्यग्दर्शन प्रकाशमान होता है, वहाँ मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चारित्र सच्चे होते हैं। सम्यग्दर्शन होने के साथ ही स्वसंवेदनरूप सम्यग्ज्ञान तथा स्वरूपाचरणचारित्र भी हो जाता है; इसलिए समन्तभद्रस्वामी, रत्नककरण्ड श्रावकाचार में कहते हैं कि—

दर्शनं ज्ञान चारित्रात् साधिमानमुपाश्नुते ।

दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गं प्रचक्षते ॥

ज्ञान और चारित्र के पहले सम्यग्दर्शन की उपासना की जाती है क्योंकि सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग में कर्णधार है, नाविक है। जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है, उसमें खेवटिया के समान सम्यग्दर्शन है। उसके अभाव में ज्ञान-चारित्र में सम्यक्पना नहीं आता; इसलिए उसकी मुख्यता है। पण्डित दौलतरामजी ने भी कहा है कि—

**मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान-चारित्रा ।
सम्यक्ता न लहे, सो दर्शन धारो भव्य पवित्रा ॥**

इसलिए कहा है कि पहले सम्यग्दर्शन का उपदेश कर्तव्य है। विशेष पूज्य चारित्रदशा है, किन्तु उस चारित्रदशा का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र नहीं होता; इसलिए पहले सम्यग्दर्शन का उपदेश करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनिधर्म का उपदेश पहले देना और जिनसे मुनिपना न लिया जा सके, उनको श्रावकधर्म का उपदेश देना— ऐसा पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में उपदेश का क्रम कहा है। किन्तु पहले सम्यग्दर्शन तो मुख्य रखने की बात है। सम्यग्दर्शन के बिना सीधा मुनिदशा का उपदेश दे देना — ऐसा नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन का ठिकाना न हो और सीधा मुनिपने का उपदेश देने लगे, यह तो क्रमभंग उपदेश है। सम्यग्दर्शन के बिना तो व्रतादि शुभराग में धर्म का आरोपण ही नहीं आता; इसलिए पहले सम्यग्दर्शन की मुख्यता है और उसका उपदेश सम्यग्दृष्टि देता है, किन्तु जिसको स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन क्या है और वह कैसे उत्पन्न होता है ? — जिसको उसकी जानकारी भी नहीं, वह उसका यथार्थ उपदेश कहाँ से देना ? सम्यग्दर्शन की जिसमें प्रधानता न हो, वह भगवान का उपदेश नहीं। भगवान ने तो सम्यक्त्व की प्रधानतावाला उपदेश दिया है।

सम्यक्त्व के आचरणरूप चारित्र, प्रथम चारित्र है

चारित्रप्राभृत में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि रत्नत्रय की शुद्धता हेतु दो प्रकार का चारित्र है, वह दो प्रकार कौन से हैं ?

जिणणाणदिट्टिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ।

विदियं संजमचरणं जिण णाण संदेसियं तं पि ॥५॥

प्रथम तो सम्यक्त्व के आचरणरूप चारित्र है—वह जिनदेव के ज्ञान-दर्शन-श्रद्धान द्वारा शुद्ध है। दूसरा संयम के आचरणरूप चारित्र है—वह भी जिनदेव के ज्ञान द्वारा दर्शाया गया शुद्ध है। सर्वज्ञ भगवान ने तत्त्व का स्वरूप कहा है, उसके ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक निःशंकितादि गुणसहित जो शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगटे, उसका नाम सम्यक्त्व का आचरण है। ऐसे सम्यक्त्वपूर्वक संयम की आराधना चारित्र का आचरण है। ऐसे दोनों आचरण रत्नत्रय की शुद्धि का कारण हैं। ऐसा जानकर क्या करना योग्य है ?

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस सकाइ ।

परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

पूर्वोक्त दो प्रकार के चारित्र को जानकर मिथ्यात्व, शंकादि दोष और सम्यक्त्व को मलिन करनेवाले अतिचार दोषों को त्रिविधि योगपूर्वक छोड़कर भगवान कथित सम्यक्त्व का आचरण करने योग्य है। उन दोषों के दूर होने से निःशंकितादि अष्टगुण सहित सम्यक्त्व-आचरण प्रगट होता है। मोक्षमार्ग का यह प्रथम आचरण है—

तं चेव गुणविसुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।

तत् चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥८॥

निःशंकितादि गुणों से विशुद्ध ऐसा जो जिन सम्यक्त्व है, उसका यथार्थ ज्ञान सहित आचरण करना, सम्यक्त्व-आचरण है, उत्तम मोक्षस्थान की प्राप्ति हेतु प्रथम यह सम्यक्त्व-आचरण चारित्र है। इस भाँति मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है।

ऐसे सम्यक्त्व-आचरणसहित जो विशुद्ध संयम का आचरण करता है, वह अमूढदृष्टिवन्त ज्ञानी अल्प काल में निर्वाण प्राप्त करता है, किन्तु सम्यक्त्व के आचरण से भ्रष्ट अज्ञानी मूढ़ जीव व्रतादि शुभरागरूप संयम का आचरण करे तो भी निर्वाण नहीं पाता। मिथ्यात्वादि मोह का जिसको अभाव हो, ऐसे जीव को ही त्रिभावरूप रत्नत्रय की शुद्धता होती है और निजगुण की आराधना के कारण वह अल्प काल में कर्मों का परिहार करता है। इस प्रकार सम्यक्त्व का आचरण करनेवाले धीर पुरुष संख्यात-असंख्यातगुनी निर्जरा करके संसार दुःखों का क्षय करते हैं और मोक्षपद पाते हैं। इसलिए ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना करना जिनभगवान के उपदेश का सार है। चारित्रप्राभृत में सम्यक्त्व का आचरण और संयम-आचरण इन दो प्रकार के चारित्र की जो बात कही है, वह बात श्री तारणस्वामी ने भी श्रावकाचार, गाथा २५४-२५५ में कही है। उन्होंने बारम्बार सम्यग्दर्शन की प्रधानता का वर्णन किया है। भगवान का उपदेश 'सम्यक्त्वप्रधान उपदेश' कहलाता है। सम्यग्दर्शन स्वयं अपने अनुभवरूप है, सम्यग्दर्शन में सहजरूप निजतत्त्व स्वयं अनुभव में आता है, वह अनुभव स्वयं से होता है, उसमें कोई अन्य अवलम्बन नहीं, विकल्प नहीं। वाह ! देखो यह सम्यग्दर्शन की महिमा ! सम्यग्दर्शन होने पर जगत की सर्वोत्कृष्ट

निधि प्राप्त हुई। बुद्धिमानों को प्रथम उपदेश सम्यग्दर्शन का करना चाहिए। सम्यग्दर्शन के पहले व्रतादि नहीं होते। आत्मार्थी जीवों को अपने हित हेतु पहले आत्मा की पहिचान का प्रयत्न करना तथा उसका उपदेश सुनना योग्य है। सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेकर उसमें एकाग्र होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म होता है, बिना सम्यग्दर्शन मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म नहीं होता।

श्री तारणस्वामी के साहित्य में शुद्ध सम्यक्त्व की महिमा बारम्बार गायी गयी है, सम्यग्दर्शन का सरस वर्णन किया है। सम्यक्त्व ही धर्म का मूल है, किन्तु लोग उसको भूलकर राग की क्रियाओं में और बाह्य क्रियाओं में धर्म मान बैठे हैं। सामायिक कोई बाह्य क्रिया अथवा राग नहीं, किन्तु 'आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव करना सामायिक है।'— 'सामायिकं च उक्तं अप्या परमप्य सम्म संजुतं'....

सम्यग्दर्शन के साथ ही धर्मी के जो निःशंकतादि आठ अंग हैं, वही उसका चारित्र है, उसे सम्यक्त्व का आचरण कहते हैं—

१. जिनवाणी में कथित वस्तुस्वरूप में धर्मी को किञ्चित् भी शंका नहीं होती, यह निःशंकता अंग है। निःशंक होने से सात प्रकार के भयों द्वारा भी वह निजस्वरूप की श्रद्धा से नहीं डिगता, इसलिए निर्भय है।

२. उसको भोगों की आकांक्षा नहीं, इसलिए निष्कांक्ष है।

३. धर्म और धर्मात्माओं के प्रति उसको ग्लानि नहीं, इसलिए निर्विचिकित्स है।

४. देव-गुरु-धर्म में अथवा वस्तुस्वरूप में उसको मूढ़ता नहीं, इसलिए अमूढ़दृष्टिवन्त है।

५. धर्मात्मा के दोष को गौण करके उपगूहन करता है और गुण की वृद्धि करता है, इसलिए वह उपगूहन गुणसहित है।

६. अपने आपको तथा अन्य धर्मात्माओं को धर्म से डिगने नहीं देता किन्तु धर्म में स्थिर करता है, ऐसा स्थितिकरण अंग है।

७. रत्नत्रय धर्म और धर्मात्माओं के प्रति विशेष प्रीतिरूप वात्सल्य है।

८. अपनी शक्ति-अनुसार धर्म की महिमा प्रगट करके उसकी प्रभावना करता है।

अपने शुद्धात्मा की अनुभूति सहित ऐसे आठ अंगों का पालन करना सम्यक्त्व-आचरण है। चौथे गुणस्थान में धर्मी को ऐसे सम्यक्त्व-आचरणरूप प्रथम चारित्र होता है। उसके पश्चात् निजस्वरूप में स्थिर होने से मुनिदशारूप वीतरागभाव खिले, तब संयम के आचरणरूप दूसरा चारित्र होता है। ऐसे दोनों चारित्र, मोक्ष के कारण हैं। मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म, दोनों में सम्यग्दर्शन तो मुख्य ही होता है। वह सम्यग्दर्शन शाश्वत स्वभाव के आश्रय से हुआ है। सम्यग्दृष्टि के परिणाम शुद्ध ज्ञाता-दृष्टास्वभावमय होते हैं। शुद्धस्वभाव के अनुभव का बारम्बार अभ्यास करने से ज्ञानमय शुद्ध आत्मा प्रगट होता है अर्थात् केवलज्ञान प्रगट होता है। ●●

[१६]

सोलहवाँ प्रवचन
मोक्ष के मार्ग में
जीव का साथी कौन ?

[वीर सं० २४८९, आश्विन शुक्ला ४]

श्री तारणस्वामी के 'उपदेश शुद्धसार' में से यह गाथा पढ़ी जा रही है। धर्मी जीव अपने शुद्ध ज्ञानस्वभाव को जानकर बारम्बार उसका अभ्यास करता है और उसका ही उपदेश देता है। यह बात गाथा ५०६ में कल बतायी थी; अब गाथा ५०७ तथा ५१८ में कहते हैं कि - आत्मस्वभाव के अनुभवरूप ज्ञान ही अमर मुक्तिपंथ है, वही केवलज्ञान का सहकारी है और वही कर्मक्षय का साधन है—

अमरो विमुक्ति पंथं, अमराए मुक्ति ज्ञान सहकारं ।
साहंति ज्ञान अवयासं, साहंति विमल कम्म विलयंति ॥५०७॥
पोषंतु ज्ञानविज्ञानं, पोषंति विज्ञान कम्म खिपनं च ।
सिद्धंतु कम्म खिपनं, सिद्धंति कम्म तिविह मुक्तं च ॥५०८॥

श्री तारणस्वामी के मूल ग्रन्थों की भाषा-शैली पृथक् है, अतएव उसके शब्दार्थ स्पष्ट समझने में कठिनाई होती है, किन्तु उनके कथन में शुद्ध आत्मा का अनुभव करने की और सम्यग्दर्शन की प्रधानता भरी हुई है।

अमर पन्थ

यहाँ कहते हैं - मुक्ति का पन्थ अमर है और ऐसे अमर केवलज्ञान का वह सहकारी है, शुद्धज्ञान का वह साधन करता है, और उस विमल साधन द्वारा कर्म का क्षय होता है। ऐसे भेदज्ञानरूप विज्ञान का पालन करना चाहिए। त्रिकाल स्वभाव ध्रुव-अमर है; उस अमर स्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ, जो कि पर्यायरूप है, मोक्षरूप है, किन्तु ऐसे अमर मोक्ष का साधन होने से उसे भी अमर कहा जाता है। मरण रहित ऐसी अमर आत्मदशा मोक्ष है और उसका जो पन्थ, वह अमर पन्थ है। आत्मा की जो शुद्धता हुई, वह ज्यों की त्यों निरन्तर बनी रहेगी, इससे उसको अमर पद कहा है।

मोक्ष का दूसरा नाम 'अमृत' है। ऐसे मोक्षपन्थ में जीव का सहकारी कौन? - तो कहते हैं कि शुद्धज्ञान, जीव का सहकारी है। मोक्ष जाने के लिये शरीर की क्रिया अथवा राग तेरा साथी नहीं; राग तो संसार का साथी है, वह मोक्ष के लिये साथी नहीं है; मोक्ष का साथी तो शुद्धज्ञान ही है। अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से जो शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुआ, वह पर्याय है और पर्याय क्षणिक है, किन्तु ध्रुव के अवलम्बन से जो शुद्धता हुई, वह सदैव ज्यों की त्यों रहेगी; ध्रुव का नाश हो तो उसका नाश हो। ध्रुव के साथ अभेद होकर जो भाव प्रगट हुआ, वह ध्रुव के साथ सदैव ज्यों का त्यों बना रहेगा; इसलिए कहा है कि ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से जो ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ, वह मोक्ष का साथी है। ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से होनेवाली मोक्षगति को ध्रुव (समयसार गाथा १ में) कहा है।

जिनोपदेश वीतरागभाव का ही पोषक है

शुद्ध उपदेश अर्थात् सच्चा उपदेश, वीतरागी उपदेश कैसा होता है ? उसका यह वर्णन चलता है। जिसमें ज्ञान-विज्ञान का पोषण हो, भेदविज्ञान का पालन हो, अर्थात् जड़-चेतन को जो भिन्न पहिचाने, राग को और शुद्धता को जो भिन्न जाने, ऐसा भेदज्ञान कराके आत्मा की शुद्धता का अनुभव कराना, वह शुद्ध उपदेश है, वह जिनोपदेश है। ऐसा भेदज्ञान और ऐसा अनुभव करे, तभी जिनोपदेश को यथार्थ समझा कहलायेगा। राग से जो धर्म माने, जड़ की क्रिया को जीव की क्रिया माने, उसने यथार्थ में जिनोपदेश को समझा ही नहीं।

चौथे गुणस्थान में वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति-पूजा का शुभराग आये, श्रावक को भी देशव्रत या पूजादि का भाव आये, तथा मुनि को पंच महाव्रतादि सम्बन्धी शुभराग आये किन्तु उस समय उस राग से भिन्न होकर जितनी वीतरागी शुद्धता हुई है, उतना ही सच्चा मोक्षमार्ग है और वही पोषण करने योग्य है; जो राग रहा, वह पोषण करने योग्य नहीं। जिससे कर्मों का क्षय हो और सिद्धपद तक जो साथ दे, ऐसा वीतरागी ज्ञान ही सेवन करने योग्य है, वह पोषण करने योग्य है।

भूमिका-अनुसार जीव की पर्याय में राग हो, वह अलग बात है, उसका अस्तित्व ही सर्वथा न माने तो ज्ञान मिथ्या पड़ता है और यदि उस राग को पोषण करने योग्य माने, उस राग द्वारा वीतरागता का कार्य करना चाहे अथवा उसको मोक्ष का साधन माने तो उसमें भी मिथ्यात्व हो जाता है। राग के समय उस राग से परे शुद्ध

ज्ञानस्वभाव विद्यमान है, उस स्वभाव का और राग का भेदविज्ञान करना चाहिए। जो ऐसा भेदज्ञान न करे तो एकान्त मिथ्यात्व हो जाता है। राग, आत्मा की पर्याय में है किन्तु वह शुद्धात्मा का साधन नहीं है।

आत्मा में 'करण' नामक एक ऐसा स्वभाव है कि जिससे वह अपने स्वभाव को ही अपनी शुद्धता का साधन बनाता है और भिन्न साधन की अपेक्षा नहीं रखता। राग में ऐसी करणशक्ति नहीं, कि जो आत्मा की शुद्धता का साधन बने। अन्तर्मुख होकर स्वभाव को अनुभव में लेने से वह स्वभाव स्वयं साधनरूप होकर शुद्धज्ञानादि का साधन करता है, और तीन प्रकार के कर्म छूट जाते हैं। इस प्रकार रागरहित शुद्धज्ञान ही मोक्ष का सहकारी है, वही मोक्ष का साधन है और वही जिनोपदेश का तात्पर्य है। यह शुद्धज्ञान विकल्परहित है।

शुद्धज्ञान सविकल्प है या निर्विकल्प है ?

ज्ञान को क्या सविकल्प कहा है ?—हाँ, कहा है, किन्तु उसमें 'सविकल्प' का अर्थ 'रागवाला' नहीं, किन्तु स्व और पर ऐसे समस्त पदार्थों को विशेषरूप से जानने की उसमें शक्ति है, उस अपेक्षा से उसको 'सविकल्प' कहा है।—ऐसी स्व-पर को जानने की शक्ति ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं, ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है; इसलिए उसको सविकल्प कहा; ऐसा सविकल्पना तो केवलज्ञान में भी लागू है।—रागरूप विकल्प उसमें नहीं, परन्तु स्व और पर दोनों के भेदसहित जानने की विशेष सामर्थ्य उसमें है, इससे उसे सविकल्प कहा है। अनुभवदशा में छद्मस्थ जीव को

ज्ञान का उपयोग परसन्मुख नहीं होता, किन्तु उस समय ज्ञान के स्वसंवेदन के पश्चात् आनन्द आदि का ज्ञान भी उस अभेद अनुभव में समा जाता है। आत्मा का ऐसा कोई अचिन्त्य स्वभाव है। ऐसे चिदानन्दस्वभाव को भली प्रकार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान की सहायता से देखना, जानना, अनुभव करना मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सहायतापूर्वक चारित्र प्रगट होता है, राग की सहायता से चारित्र प्रगट नहीं होता; उसके तो अभाव द्वारा ही चारित्र प्रगट होता है।

निश्चय और व्यवहार

यह आत्मा के सूक्ष्म वीतरागी स्वभाव की बात है। शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उसमें निर्विकल्प रमणता करके अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर अनुभव करना निश्चयचारित्र है और वह मोक्ष का वास्तविक साधन है। उसके साथ कषाय का लेशमात्र भी कोई शुभराग शेष रहे, उसको उपचार से व्यवहारचारित्र कहते हैं, किन्तु वह मोक्ष का यथार्थ साधन नहीं है। उस काल का वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है किन्तु वह आदर करने योग्य नहीं है। अभी साधक भूमिका होने से उसका सर्वथा अभाव नहीं हुआ, पर्याय में उसका अस्तित्व है - ऐसा जानना चाहिए, परन्तु शुद्ध स्वभाव के अनुभव में तो उसका अभाव ही है, इसलिए वह अभूतार्थ है। यह जैनधर्म का रहस्य है और ऐसा अनुभव करना सम्यग्दर्शन है।

मोक्षमार्ग में साधक को निश्चय और व्यवहार दोनों चारित्रों का संयोग है, दोनों साथ रहनेवाले हैं। ऐसा निश्चय-व्यवहार अज्ञानी

को नहीं होता तथा केवली को जहाँ निश्चयचारित्र की शुद्धता पूरी हो गयी, वहाँ व्यवहार रहा नहीं। साधक को दोनों साथ होते हैं, उसमें भी निश्चयचारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्ष का कारण है और व्यवहारचारित्ररूप रागभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है—इस प्रकार धर्मी को सर्वत्र निश्चय-व्यवहार का विवेक वर्तता है। अन्तर्मुख होकर जब शुद्ध स्वभाव का अनुभव किया, तब तो चौथा गुणस्थान हुआ और निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगटा। उसके पश्चात् स्वरूप में लीनता से जैसे-जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे गुणस्थान बढ़ता जाता है। स्वरूप में जितनी शुद्धता हुई, उतना निश्चयचारित्र है, उस भूमिका में रहनेवाले व्रतादि शुभ विकल्प को चारित्र कहना व्यवहार है। यह व्यवहारचारित्र, पुण्यबन्ध का कारण है; निश्चयचारित्र, संवर-निर्जरा तथा मोक्ष का कारण है। भूमिका के अनुसार वह दोनों साथ होते हैं।

जब जागे, तभी सबेरा

ऐसा तत्त्व का स्वरूप, अज्ञान के कारण जीव कभी नहीं समझा, परन्तु जब समझना चाहे, तब ज्ञान से ही समझ सकता है, जब जागे, तभी सबेरा। समझने की शक्ति उसमें भरी है। वह स्वयं जागृत होकर जब समझेगा, तब पहली बार ही समझेगा न? तीर्थकर होनेवाले जीव भी पूर्व में जब तक सच्चे तत्त्व को नहीं समझे थे, तभी तक संसार-भ्रमण करते रहे; पश्चात् उन्होंने सच्चे तत्त्व को समझकर भेदज्ञान के बल से संसार पार किया और ऐसा ही भेदज्ञान का जगत के जीवों को उपदेश दिया। उसकी यह बात है।

मोक्ष के हेतु मुमुक्षु की झंकार

जीव को अपने हित के लिये अन्तर से सत् समझने की जिज्ञासा जागृत होना चाहिए। कुछ गरीब लोग गायें चराते थे, एक बार जब राजा ने राजगद्दी के लिये बुलाकर उनसे पूछा कि कैसे आये हो? तब उनमें से एक पुण्यवान बालक ने तुरन्त उत्तर दिया कि हम राज लेने आये हैं और राजा ने उसको बड़ौदा का राज्य सौंप दिया। अन्तर से उसको ऐसी पुण्य की झंकार आयी। उसी भाँति मुमुक्षु जीव से कोई पूछे कि ज्ञानी के पास तुम क्यों आये हो? – तो उस मुमुक्षु जीव को अन्तर से आत्मा की पवित्रता की झंकार आती है कि हम हमारा केवलज्ञान का राज्य लेने के लिये आये हैं। हमारे स्वभाव की बात हम बराबर समझेंगे और आत्मा में से मोक्ष पद का राज्य प्रगट करेंगे—ऐसी अन्तर से पात्रता की झंकार आती है और ऐसा मुमुक्षु जीव अल्प काल में अपना केवलज्ञान राज्य प्राप्त करता है।

अन्य गायों के चरानेवालों ने तो राजा को ऐसा उत्तर दिया कि 'हमको किसलिए बुलाया गया है, उसकी जानकारी नहीं, आपने बुलाया; इसलिए हम आये।' राजा ने उत्तर से देख लिया कि इनमें राज्य चलाने की शक्ति नहीं है। उसी प्रकार पहले से ही जो ऐसा रोना रोता है कि 'हमको आत्मा की बात समझ में नहीं आती!' तो ज्ञानी कहते हैं कि इसमें अभी मोक्ष का राज्य लेने की तैयारी नहीं है। मोक्ष की तैयारीवाले जीव को तो अन्तर से ललकार आती है कि मोक्ष के लिये हम आत्मा का स्वरूप समझने आये हैं और स्वरूप का अनुभव करके मोक्ष लेना ही है। मोक्ष के हेतु हम

जागृत हुए हैं और हमारा आत्मस्वरूप हम न समझ सकें, ऐसा हो ही नहीं सकता। इस प्रकार मुमुक्षु जीव, आत्मा के लिये उल्लसित वीर्यवान होता है।

परमात्मा के साथ मिलते ही सिद्धपद की प्राप्ति

‘ममलपाहुड़’ (भाग ३, पृष्ठ २२९) में श्री तारणस्वामी कहते हैं कि परमात्मा के स्वभाव से मेल किया जाता है, तब अपना स्वभाव भीतर से खिंचकर प्रगट होते-होते जिनेन्द्ररूप हो जाता है! मोक्ष जानेवाले और सिद्धस्वभाव में रमण करनेवाले जिनेन्द्र की जय हो। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं, वैसा ही मैं हूँ—ऐसी अनुभूति से जहाँ परमात्मा के स्वभाव के साथ मिलन किया, परमात्मा के साथ अपने आत्मा का मेल किया अर्थात् अन्तर में स्वभावसन्मुख एकाग्र होकर परिणमन किया, वहाँ भीतर से अपना स्वभाव खिंच-खिंचकर पर्याय में प्रगट होता है—शक्ति उमड़-उमड़कर पर्याय में व्यक्त होने लगती है; इस प्रकार स्वभाव में से खिंचकर पर्याय में प्रगट होते-होते जिनेन्द्ररूप दशा हो जाती है अर्थात् केवलज्ञान / सर्वज्ञपद प्रगट होता है। ऐसा कहने के पश्चात् आनन्द से कहते हैं कि—अहो! इस प्रकार परमात्मा के साथ मिलन करके मोक्ष में जानेवाले और सिद्धस्वभाव में रमण करनेवाले जिनेन्द्र की जय हो!

जै जै मेल समय खेंचे उवन जिना,
जै जै मुक्ति गमन जिन सिद्धि रमना।

देखो! अपनी शक्ति में जो स्वभाव भरा है, उसके साथ मिलन करने से (उसकी श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता करने से) शक्ति, पर्याय में प्रगट होती है। परमात्मपद बाहर से नहीं आता, परन्तु शक्ति में भरा

है, वही खिंचकर अर्थात् परिणमन होकर प्रगट होता है। ऐसी दशा प्रगट करनेवाले जिनेन्द्रदेव की जय हो! हमें भी स्वभाव के साथ मिलन करके इसी मार्ग पर आना चाहिए।

स्वभावशक्ति में दृष्टि देने से परमात्मदशा का अवतार होता है; राग में से परमात्मपना नहीं आता। हमारा आत्मा, हमारा सिद्धपद हमारे में ही है, बाहर नहीं—ऐसा अन्तर अनुभव करते-करते आत्मा स्वयं जिनवर / सिद्ध हो जाता है। इस भाँति मोक्ष जानेवाले सिद्धों की जय हो... जिनवरों की जय हो!

साधक कहता है कि हमने अपने परमात्मस्वभाव का अवलम्बन लिया है। अब हमारा आत्मा सिद्ध हो गया, अब हमारा आत्मा संसार में डूबेगा नहीं। एक बार २०० जहाज माल भरकर आ रहे थे, उसमें एक पुण्यवान सेठ के भी दो जहाज थे। आते-आते समुद्र के तूफान में १९८ जहाज तो डूब गये; केवल दो रह गये। सेठ को जब इस बात की खबर मिली तो विश्वासपूर्वक उसने कहा कि जो दो जहाज बचे हैं, वह ही हमारे हैं; डूबे हैं, वह दूसरों के। हमारे जहाज डूबेंगे नहीं, क्योंकि हमारा पुण्य प्रतापी है, और हमारे पुण्य में कहीं कमी नहीं पड़ी, इसलिए हमारे जहाज डूबेंगे नहीं। इस भाँति पुण्यवन्त सेठ को अपने पुण्य का विश्वास था। (और सचमुच जो दो जहाज बचे थे, वे उसके ही थे); उसी प्रकार यहाँ परमात्मस्वभाव के विश्वास के जोर पर साधक-धर्मात्मा कहता है कि हम अब संसार-समुद्र से तिरकर मोक्ष में जा रहे हैं, हमारे आत्मा का जहाज अब संसार में डूबेगा नहीं। स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान से हमें तो तिरना ही है। दुनिया भले ही डूबे, परन्तु हमें श्रद्धा-ज्ञान के बल से केवलज्ञान लेना है और मोक्ष में जाना है।

समझने का उल्लास

भाई! यह तेरी ही बात है, तुझे समझाने की बात है, तेरे सम्पूर्ण हित की बात है। यदि समझ में न आये तो उपदेश किसलिए देते हैं?—इसलिए उत्साह से समझ। स्वभाव के उल्लासपूर्वक समझेगा तो अवश्य समझ में आ जायेगी, परन्तु पहले से ही 'मेरी समझ में नहीं आती'—ऐसा कायर होकर समझे और समझने का उल्लास ही न करे तो उसे कहाँ से समझ में आयेगी ?

ॐ अर्थात् शुद्ध आत्मा, अर्थात् अरिहन्त की अखण्ड वाणी

ॐ, सर्वज्ञ भगवान की वाणी है और उसका वाच्य शुद्ध-आत्मा है। आत्मा सर्वज्ञ हो जाये और पश्चात् अरिहन्तदशा में उसकावे वाणी का योग हो तो वह वाणी भेदवाली अथवा क्रमवाली नहीं होती, ओंठों के हिलने से वह वाणी नहीं निकलती किन्तु सर्वांग से वाणी की अखण्ड झंकार उठती है। राग टूटकर ज्ञान अभेद हुआ, वहाँ वाणी में भी भेद नहीं रहा; ज्ञान में क्रम नहीं रहा और वाणी में भी क्रम नहीं रहा, दोनों अक्रम हो गये; ज्ञान अखण्ड हो गया, वाणी भी अखण्ड हुई, उसको 'ॐ' कहते हैं और उसका वाच्य शुद्ध आत्मा है। पण्डित बनारसीदासजी ने भगवान के १००८ नामों में 'प्रथम ओंकाररूप...' ऐसा कहकर पहला ही नाम ॐ कहा है।

निश्चयधर्म अर्थात् आत्मा की शुद्धि

शुद्ध आत्मा के ध्यान से जब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, तभी निश्चय और व्यवहार दोनों सच्चे होते हैं। अज्ञानी को मोक्षमार्ग का निश्चय अथवा व्यवहार एक का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। मोक्षमार्ग का निश्चय और व्यवहार सम्यग्दृष्टि को ही होता है। मुनिदशा में

मुनि के योग्य निश्चय-व्यवहार दोनों साथ होते हैं। दोनों साथ होते हुए भी शुद्ध ज्ञानस्वभाव के आश्रय से जो निश्चयदशा प्रगटी और जितनी शुद्धता हुई, वही मोक्ष का कारण है अर्थात् दोनों नयों को जानकर भी ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना ही तात्पर्य है।

निश्चय से ब्रह्मचर्य, सामायिक आदि भी आत्मस्वरूप में रमणता से होते हैं, यह बात श्री तारणस्वामी ने भी कई स्थानों पर बताया है। ज्ञानसमुच्चयसार गाथा ३५९ में कहते हैं कि आत्मा ब्रह्मस्वभावी है, उसको जानकर आनन्दपूर्वक निश्चय-व्यवहार-चारित्र का आचरण करना और आत्मा के स्वभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत है। उस अणुव्रती श्रावक को कुशील भावों से विरक्ति है और स्वभाव में चरने का अभ्यास है, शुद्धात्मा का मनन है। देखो! श्रावक को भी शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाला कहा है।

अपने स्वरूप को रागादि से भिन्न जानकर उसमें स्थिर होना ही समभावरूप वीतरागी सामायिक है। गाथा २९० आदि में कहते हैं कि श्रावक को जल छानने का उपदेश है, परन्तु सम्यग्दर्शन बिना मात्र पानी छानकर पीने से कहीं श्रावकदशा नहीं हो जाती। सम्यक् चेतना परिणामरूपी जल को शुद्ध रखना और उसमें परभाव का प्रवेश न होने देना, परमार्थ जल छानना है। इसी प्रकार रात्रि-भोजन त्याग आदि में भी जानना। सम्यग्दर्शन बिना रात्रिभोजन-त्याग आदि शुभराग से आत्मशुद्धि नहीं होती या श्रावकपना नहीं होता। जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के मार्ग पर चलनेवाले हैं, उनके ही परिणाम की विशेष शुद्धि से व्रतों की सफलता है।

सम्यक्त्व को साथी बनाओ

श्री तारणस्वामी, श्रावकाचार-गाथा २९६ में कहते हैं कि- मिथ्यात्व परम दुःख है और सम्यक्त्व परम सुख है, ऐसा जानकर मिथ्यादर्शन को छोड़ो और शुद्ध सम्यग्दर्शन को अपना साथी बनाओ।

मिथ्यात्वं परमं दुःखं सम्यक्त्वं परमं सुखं ।

तत्र मिथ्यामतं त्यक्तं, शुद्ध सम्यक्त्व साद्धयं ॥

सुख के लिये ऐसे सम्यक्त्व का अभ्यास करने योग्य है। बाहर का उलटा अभ्यास हो गया है, उसको छोड़कर शुद्ध आत्मा की पहिचान के लिये उसका अभ्यास करना चाहिए। देह की, परिवार की सम्भाल के लिये कितना ध्यान रखता है? तो आत्मा का हित करने के लिये उसका अभ्यास करके अपनी आत्म-पर्याय की सम्भाल करना चाहिए। आत्मा का परम स्वभाव पिता और निर्मल पर्यायें उसकी प्रजा, ऐसे शुद्ध आत्मा को पर से भिन्न पहिचानकर उसकी बारम्बार भावना करने योग्य है।

जीव-रक्षा के विषय में गाथा ३०५ में कहते हैं कि शुद्ध-दृष्टिवन्त श्रावक को शुद्धात्मा की भावना होती है और षट्काय जीवों की रक्षा के लिये वह प्रासुक जल काम में लेता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक को जीव रक्षा का ऐसा शुभभाव होता है, किन्तु उसमें जो राग है, उसको वह कर्तव्य नहीं मानता। पर की पर्याय को तो आत्मा करता नहीं, पर की रक्षा का भाव, शुभराग है और रागादि भावों से जीव के उपयोग का हनन नहीं करना और शुद्धात्मा के अनुभव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पोषण करना, यह परमार्थ से जीवरक्षारूप धर्म है।

शुद्धात्मा का उपदेश समझना... समझकर अनुभव करना

श्री तारणस्वामी ने उपदेश शुद्धसार में ४९२ से ५१९ वीं गाथा तक मोक्षमार्ग अधिकार कहा है, वह पढ़ा जा रहा है, उसमें गाथा ५०९ में कहते हैं कि—

‘गमस्य अगमं द्विष्टं....’ गम्य जो कि मन-वचन-काय से अगम्य है, ऐसे अनन्त स्वभावरूप आत्मा को देखना तथा अनुभव करना चाहिए। उसमें मोक्षमार्ग को समझना और समझकर ज्ञानस्वभावी आत्मा में लीन होना, जिससे कर्मों का क्षय हो जाये।

आत्मा अनन्त स्वभावों से भरा है, वह मन से अथवा विकल्पों से अगोचर है, परन्तु ज्ञान द्वारा गम्य है। उसी का अनुभव करने योग्य है। श्रीगुरु के निकट मोक्षमार्ग समझने योग्य है। इसमें दो बातें कही हैं - एक तो ‘समझने’ को कहा अर्थात् उसे समझानेवाले ज्ञानी की देशनालब्धि की बात कही और दूसरा ‘मोक्षमार्ग’ समझना - ऐसा कहा, अर्थात् शिष्य को राग की अथवा संसार की बात समझने का उत्साह नहीं, परन्तु आत्मा की मुक्ति कैसे हो - उसे समझने का उत्साह है। समझनेवाला शिष्य मोक्षमार्ग ही समझना चाहता है और श्रीगुरु भी यही बात समझाते हैं, ऐसी दोनों की सन्धि है।

अहा! शुद्धात्मा की बात तो गणधरदेव भी तीर्थकर के श्रीमुख से समझते हैं और प्रतिक्षण अन्तर में उसका अनुभव करते हैं। समझने के साथ श्रवण का विकल्प तो है, परन्तु समझकर क्या करना?—विकल्प में न अटकना; उससे भिन्न ज्ञानस्वरूप का अनुभव करना। समझाने में भी ऐसा ही आया है कि ‘तेरा आत्मा विकल्प से भिन्न ज्ञानस्वभावी है, उसको जान।’—ऐसे आत्मा को लक्ष्य में

ले तो ही यथार्थ समझना कहलायेगा। ज्ञानियों ने जैसा कहा, शिष्य ने वैसा किया, तभी सच्चा ज्ञान हुआ। ऐसा सच्चा ज्ञान, मोक्ष के मार्ग में जीव का साथी है।

समयसार की पाँचवीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि मैं इस समयसार में मेरे समस्त आत्मवैभव से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा दिखाता हूँ, मैं दिखाऊँ उसी प्रकार से तुम अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। शब्दों की ओर देखकर नहीं अटकना, किन्तु शुद्धात्मा का जो भाव मैं कहना चाहता हूँ, उसे लक्ष्य में लेकर तुम अनुभव करना। श्रवण के समय विकल्प भले हो, परन्तु वाच्यरूप जो शुद्ध आत्मा है, उसकी ओर ज्ञान को झुकाना। स्वभाव की ओर के झुकाव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग होगा।

इति द्वितीय अष्ट प्रवचन समाप्त



* * * * *

गुरु उपदेश सों पायके अष्ट प्रवचन आज,
सम्यग्दर्शन-ज्ञान है तारनतरन जहाज।
अष्ट प्रवचन कहान के दर्शावें भगवान,
भक्त 'हरि' वो झेलके हो जाते भवपार॥

* * * * *

परिशिष्ट - १

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की रीति

समयसार गाथा १४४ के प्रवचनों से

पूज्य गुरुदेवश्री ने सिखलायी :
सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि

सम्यग्दर्शन के लिये उद्यम करनेवाले मुमुक्षु जीव पहले तो ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करते हैं, उसके पश्चात् उसकी प्रगट प्रसिद्धि अर्थात् साक्षात् अनुभव किस प्रकार से करते हैं—यह समझाते हुये आचार्यदेव ने सम्यग्दर्शन करया है।

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभाव समझने आये हैं, वे सुख लेने और दुःख टालने आए हैं। सुख अपना स्वभाव है, और जो दुःख है, वह क्षणिक विकृति है, इससे वह टल सकता है। वर्तमान दुःख-अवस्था टालकर सुखरूप अवस्था स्वयं प्रगट की जा सकती है, इतना तो जो सत् समझने आये, उन्होंने स्वीकार ही कर लिया है। आत्मा के निजभाव में ज्ञान का पुरुषार्थ करके विकाररहित ज्ञानस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। पर्याय में वर्तमान विकार होने पर भी, विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है, अर्थात् इस विकार और दुःख से रहित मेरा स्वरूप सुखमय है—ऐसा निश्चय करके सुख का अनुभव हो सकता है।

पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप प्रगट करने हेतु प्रथम ही सत्समागमरूप ज्ञानक्रिया शास्त्रों में बतायी है, अर्थात् श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्र का आदर तथा उस ओर की वृत्ति तो जिज्ञासु की छूट ही जाती है, तथा विषयादि परवस्तु में सुखबुद्धि टल जाती है, सभी ओर से रुचि हटकर अपनी ओर रुचि का लगाव होता है और देव-गुरु-

शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचानकर उनका आदर करता है, तथा उनके बताये हुये ज्ञानस्वभाव का निर्णय करता है, -यह सब 'स्वभाव के लक्ष्य से' हुआ हो तो उस जीव को पात्रता हुई कहलायगी। इतनी पात्रता अभी साक्षात् सम्यग्दर्शन नहीं; सम्यग्दर्शन तो चैतन्यस्वभाव में उपयोग लगाकर निर्विकल्प प्रतीति करना है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्रगट करने के लिये पात्र जीवों को क्या करना है, वह इस समयसार में स्पष्ट बताया है।

सम्यग्दर्शन के हेतु समयसार में बतायी गयी क्रिया, अर्थात् ज्ञानक्रिया

प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के हेतु, परपदार्थों की प्रसिद्धि के जो कारण इन्द्रियों और मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धियाँ हैं-उनको मर्यादा में लाकर मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख करना, तथा अनेक प्रकार के पक्षों के अवलम्बन से हुए विकल्पों द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाते हुए श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करना। इस भाँति जीव जब ज्ञान को विकल्प से भिन्न करके आत्मसन्मुख करता है, उस समय वह अत्यन्त विकल्परहित होकर, तत्काल परमात्मारूप समयसार का अनुभव करता है, और उसी समय 'आत्मा' सम्यक् रूप में दिखता है (अर्थात् श्रद्धा होती है) तथा जाना जाता है। इससे समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। (समयसार गाथा-१४४ टीका) उसका यह स्पष्टीकरण है।

श्रुतज्ञान किसको कहते हैं ? श्रुत का लक्षण अनेकान्त

'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का

निर्णय करना’-ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहते हैं? सर्वज्ञ भगवान कथित श्रुतज्ञान, अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तुस्वरूप को सिद्ध करता है। ‘अनेकान्तस्वरूप वस्तु स्व-रूप से है, पर-रूप से नहीं’—ऐसा जो वस्तु को स्वतन्त्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु अपनेपन (स्व-रूप) से है और वह वस्तु अनन्त परद्रव्यों से पृथक् है, ऐसी पर से भिन्नता बताते हुए, स्व की ओर लग जाने को बताता है—वह श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व-रूप से है और पर-रूप से नहीं—ऐसा कहकर श्रुतज्ञान ने वस्तु की परिपूर्णता सिद्ध की है, और स्वाश्रय करने को बताया है। श्रुतज्ञान के बताये हुए ऐसे स्वरूप को समझकर ज्ञानस्वभाव का निश्चय करना चाहिए।

ज्ञानस्वभावी मेरा आत्मा अनन्त परवस्तुओं से भिन्न है—ऐसा सिद्ध होने पर, अपने द्रव्य-पर्याय में देखना आया। मेरा त्रिकाली द्रव्य, एक समय के विकार जितना नहीं, अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूप से है परन्तु त्रिकालीस्वरूप से विकार नहीं; ऐसे विकाररहित ज्ञानस्वभाव की सिद्धि भी अनेकान्त से ही होती है। भगवान कथित सत्शास्त्रों की महत्ता अनेकान्त से ही है, वह ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय कराता है। सर्वज्ञ भगवान ने भी अपना ही कार्य पूरा किया परन्तु दूसरों का कुछ किया नहीं, क्योंकि यह तत्त्व अपनेपन से है और पररूप से नहीं, इससे वह किसी भी दूसरे का कुछ कर सकता नहीं। प्रत्येक द्रव्य पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र है; कोई किसी का कुछ कर सकता नहीं—ऐसा जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, वही श्रुतज्ञान है। यह तो अभी स्वरूप को समझनेवाले की पात्रता कहलाती है।

जैनधर्म अर्थात् आत्मा का वीतरागस्वभाव; उसकी प्रभावना, धर्मी जीव करते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किस भाँति हो सकती है? प्रभावना करने का विकल्प उठे, वह भी पर के कारण नहीं। दूसरे के लिये कुछ भी अपने में हो—ऐसा कहना जैन-शासन की मर्यादा में नहीं। जैन-शासन तो वस्तु को स्वतन्त्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर, कषायभाव से अपने आत्मा को बचाना—ऐसा करने को भगवान ने कहा है, यही यथार्थ उपदेश दिया है। जीव निज आत्मा का निर्णय किये बिना क्या करेगा? भगवान के श्रुतज्ञान में तो ऐसा कहा है—तुम अपने से परिपूर्ण वस्तु हो। प्रत्येक तत्त्व स्वयं से ही स्वतन्त्र है, किसी तत्त्व को अन्य तत्त्वों का आश्रय नहीं; इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट समझकर स्व-आश्रय से वीतरागभाव प्रगट करना अहिंसा है, और एक-दूसरे का कुछ कर सकता है; इस प्रकार वस्तु को पराधीन मानकर कर्तृत्वबुद्धि और राग-द्वेष करना हिंसा है।

आनन्द प्रगटाने की भावनावाले क्या करें?

जगत में जीव सुख चाहते हैं। सुख कहो या धर्म कहो। धर्म करना अर्थात् आत्मशान्ति प्रगट करना। आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतरागी आनन्द प्रगट करना है। यह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो, जिसके लिए पर का अवलम्बन न हो। ऐसा आनन्द प्रगट करने की जिसको यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहले यह देखता है कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट है और

किस प्रकार प्रगटा है ? अपने को अभी वैसा आनन्द प्रगट नहीं, क्योंकि यदि अपने को वैसा आनन्द प्रगट हो तो प्रगताने की भावना नहीं होगी। इसलिए अपने को अभी वैसा आनन्द प्रगटा नहीं, किन्तु अपने को जिसकी भावना है, वैसा आनन्द दूसरे किसी को प्रगटा है, और जिसको वह आनन्द प्रगटा है, उसके पास से स्वयं वह आनन्द प्रगट करने का सच्चा मार्ग जानना चाहता है। इसलिए इसमें सच्चे निमित्तों की पहिचान और अपनी पात्रता दोनों आ गये। इतना करे, तब तक अभी जिज्ञासु है।

अपनी अवस्था में अधर्म / अशान्ति है, वह टालकर धर्म / शान्ति प्रगट करना है। वह शान्ति अपने आधार से और परिपूर्ण चाहिए, ऐसी जिसको जिज्ञासा हो, वह प्रथम ऐसा निर्णय करता है कि मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ, तो वैसा परिपूर्ण सुख किसी को प्रगट हुआ होना चाहिए, जो परिपूर्ण सुख-आनन्द प्रगट न हो तो दुःखी कहा जाएगा। जिसको परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट हुआ हो, वही सम्पूर्ण सुखी है, वह सर्वज्ञ है। इस भाँति जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है, परन्तु (अन्य कुछ) करने-छोड़ने की तो बात है ही नहीं। ज्यों ही पर से थोड़ा छुटकारा मिला, त्यों ही आत्मा की जिज्ञासा हुई है। यह तो पर से छुटकारे की और अब जिसको अपना हित करने की आतुरता जागृत हुई है—ऐसे जिज्ञासु जीव की बात है। परद्रव्य के प्रति सुखबुद्धि और रुचि टालकर स्वभाव की रुचि करने की बात है।

दुःख का मूल भूल है। जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है, वह अपनी भूल टाले तो उसका दुःख टले.... अन्य किसी

ने यह भूल की नहीं, इससे अन्य कोई अपना दुःख टालने में समर्थ नहीं। अपनी भूल टालने के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन करने के लिये पात्र जीवों को पहिले क्या करना चाहिए? वह कहते हैं।

श्रुतज्ञान का अवलम्बन-यही पहली क्रिया

जो आत्मकल्याण करने को उद्यत हुआ है—ऐसे जिज्ञासु को उद्यम से अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना है। ऐसे ही आत्मकल्याण नहीं हो जाता, परन्तु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये, जिनको पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ वे कौन हैं, वे क्या कहते हैं, उन्होंने पहले क्या किया था?—इसका अपने ज्ञान में निर्णय करना पड़ेगा, अर्थात् सर्वज्ञ का स्वरूप जानकर उनके द्वारा कथित श्रुतज्ञान के अवलम्बन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिये, यह प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगटता नहीं, तो भी जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब उसमें निमित्तरूप से सत्देव-गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार पहला ही निर्णय यह आया कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है, वही पुरुष पूर्ण सुख का सत्यमार्ग कह सकता है, स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख प्रगट कर सकता है और स्वयं वह समझे, तभी सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिसको स्त्री, पुत्र, पैसा आदि की अर्थात् संसार के निमित्तों की ओर तीव्र आसक्ति हो और धर्म के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र के प्रति प्रीति न हो, उसको श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं प्रगटेगा, और श्रुतज्ञान के अवलम्बन बिना आत्मा

का निर्णय नहीं होगा। अतः जो विषयों में सुख माने या कुदेवादि को माने, उसे आत्म-निर्णय होता ही नहीं।

यथार्थ धर्म कैसे होता है, उसके हेतु जिज्ञासु जीव पूर्ण ज्ञानी भगवान, साधक सन्त गुरु, और उनके कहे शास्त्रों के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को उद्यमी होने के पश्चात्, ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अन्तर्मुख होकर साक्षात् अनुभव करे, यह धर्म की कला है। धर्म की कला ही संसार नहीं समझा है। यदि धर्म की एक कला ही सीख ले तो उसका मोक्ष हुए बिना नहीं रहेगा। जैसे दोज उगे, वह बढ़कर पूर्णिमा होती ही है।

जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है और उसे सत्देव-गुरु की ऐसी लगन लगती है कि सत्पुरुषों ने जो कहा है, वही समझने का लक्ष्य है, अर्थात् तीव्र अशुभ से तो हट ही गया है। जो सांसारिक रुचि से पीछे नहीं हटे तो वीतरागी श्रुत के अवलम्बन में टिक नहीं सकता।
धर्म कहाँ है और कैसे होता है ?

बहुत से जिज्ञासुओं को प्रश्न उठता है कि धर्म के हेतु पहले क्या करना चाहिए ? उसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं कि तेरे ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर। बाह्य में कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं। धर्म तो अपना स्वभाव है। धर्म पराधीन नहीं। किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता; किसी के दिये दिया नहीं जाता, किन्तु अपनी पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए हो, उसको पूर्ण आनन्द का स्वरूप क्या है—यह निश्चित करना चाहिए। जो आनन्द मैं चाहता हूँ, वह पूर्ण अबाधित चाहता हूँ; इसलिए जिन

आत्माओं ने वैसी पूर्णानन्ददशा प्राप्त की है, उन्हें ज्ञान भी पूर्ण ही है, इस प्रकार जिनको पूर्णानन्द प्रगटा है, वे सर्वज्ञ भगवान हैं; उनका और उन्होंने क्या कहा है, उसका जिज्ञासुओं को निर्णय करना चाहिए। इसी से कहा है कि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। इसमें उपादान-निमित्त की सन्धि रहती है। ज्ञानी कौन है, सत् बात कौन कहता है?—यह सब निर्णय करने के लिए निवृत्ति लेना चाहिए। जीव को स्त्री-कुटुम्ब-लक्ष्मी के प्रेम में और संसार की रुचि में कमी नहीं होगी तो वह सत्समागम के लिए निवृत्ति नहीं ले सकता। श्रुत का अवलम्बन लेने को कहा, वहीं अशुभभाव का त्याग आ गया, और सच्चे निमित्तों की पहिचान करना भी आ गया।

सुख का उपाय—ज्ञान और सत्समागम

हे जीव! तुझे सुख चाहिए न? यदि तू सुख चाहता हो तो तू पहिले सुख कहाँ है और कैसे प्रगट होता है?—उसका निर्णय कर, ज्ञान कर। सुख कहाँ है और कैसे प्रगटे?—उसके ज्ञान बिना, कष्ट सहन करते हुए सूख जाये तो भी सुख नहीं मिलेगा; धर्म नहीं होगा। सर्वज्ञ भगवान कथित श्रुतज्ञान के अवलम्बन से यह निर्णय होता है, और ऐसा निर्णय करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो, वह धर्मी को जाने और धर्मी क्या कहता है—उसका निर्णय करने के लिये सत्समागम करे। सत्-समागम से जिसको श्रुतज्ञान का अवलम्बन हुआ कि अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु, यही उत्कृष्ट महिमावान है! ऐसे परम स्वरूप को मैंने अनन्त काल में भी नहीं जाना।—ऐसा लगते ही उसे स्वरूप की रुचि जागेगी और

सत्समागम का रंग चढ़ेगा, अर्थात् उसे कुदेवादि या संसार की ओर का रंग उड़ जायेगा, राग का रंग भी उड़ जायेगा और ज्ञानस्वभाव की ओर वृत्ति हो जायगी।

यदि ज्ञानस्वभावी वस्तु की महिमा जाने तो प्रेम जागृत होगा और उस ओर पुरुषार्थ लगेगा। अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में भटकता है। स्वरूप से बाहर संसार में भटकते हुए जीव को महाभाग्य से परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी गुरु मिले। वे पूर्ण हित कैसे होता है—यह समझते हैं और आत्मा के स्वरूप की पहिचान कराते हैं। अहो! अपने स्वरूप को जानकर क्या जिज्ञासु को उल्लास नहीं आयेगा? आत्मस्वभाव की बात जानकर जिज्ञासु जीवों को उल्लास आता ही है... अहो! अनन्त काल से यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ, स्वरूप से बाहर परभाव में भ्रमते हुए अनन्त काल दुःखी होता रहा। यदि यह अपूर्व ज्ञान पहले कहीं होता तो यह दुःख नहीं होता। इस प्रकार स्वरूप की लगन लगती है, रस आता है और महिमा जागती है और उस महिमा का यथार्थरूप में अभ्यास करते हुए स्वरूप का निर्णय करके स्वसन्मुख होता है।

इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो, उसे प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिए। भगवान कथित श्रुतज्ञानरूपी डोर को दृढ़ता से पकड़कर, उसके अवलम्बन से स्वरूप में पहुँच जाना है।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का अर्थ क्या? जिसको सच्चे श्रुतज्ञान का ही रस है, अन्य कुश्रुत का रस नहीं, संसार की बातों का रस

हट गया है, और श्रुतज्ञान का तीव्र रस लगा है; इस प्रकार श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने को जो तैयार हुआ है, उसे अल्प काल में आत्मभान होगा। संसार का तीव्र राग जिसके हृदय में घुसता हो, उसे इस परम शान्त स्वभाव की बात समझने की पात्रता जागृत नहीं होती। यहाँ जो 'श्रुत का अवलम्बन' कहा है, वह अवलम्बन तो स्वभाव के लक्ष्य से है, पीछे न फिरने के लक्ष्य से है। श्री समयसार में अप्रतिहत शैली से ही कथन है। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए जिसने श्रुत के अवलम्बन का यत्न किया, वह आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव करना ही है, पीछे नहीं फिरता, ऐसी बात ही समयसार में कही गयी है।

संसार की रुचि घटाकर आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य से जो यहाँ तक आ गया, उसे श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निर्णय होना ही है, निर्णय न हो-ऐसा नहीं होगा। यहाँ दीर्घ संसारी की बात नहीं... यहाँ तो अल्प काल में मोक्ष जानेवाले जीवों की बात है। सभी बातों में 'हाँ जी हाँ...' करे और एक भी बात का अपने ज्ञान में निर्णय करे नहीं, ऐसे 'ध्वजा की पूंछ जैसे' जीवों की बात यहाँ नहीं है। जो अनन्त काल के संसार का अन्त लाने के लिए पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने निकला है—ऐसा जीव प्रारम्भ करने के पश्चात् पीछे नहीं फिरता। ऐसी ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है। पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ ही वास्तविक प्रारम्भ है, पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ पीछे नहीं फिरता.... पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती है।

जिस ओर की रुचि, उसी ओर की लगन

इसमें एक की एक बात घुमा-फिराकर बारम्बार कही जाती है, जिससे रुचिवान जीव को ऊब न आवे। जिस प्रकार नाटक की रुचिवाला नाटक में 'वन्स मोर' कहकर अपनी रुचिवाली वस्तु को बार-बार देखता है, उसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की रुचि हुई और आत्मा का हित करने हेतु निकले, वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रत्येक समय-खाते, पीते, चलते, सोते, बैठते, विचारते निरन्तर श्रुत का ही अवलम्बन, स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं; उसमें किसी काल, किसी क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। उनकी श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जमी है कि कहीं से भी फिसलती नहीं। अमुक समय अवलम्बन करना और उसके पश्चात् छोड़ देना—ऐसा नहीं कहा, परन्तु श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। जिसे सच्चे तत्त्व की रुचि हुई है, वह अन्य सब कार्यों की प्रीति को गौण ही करता है, और उसकी परिणति आत्मा की ओर लग जाती है।

प्रश्न : तब क्या सत् की प्रीति होने पर खाना-पीना और धन्धा-व्यापार सभी छोड़ देना चाहिए? श्रुतज्ञान ही समझते रहना चाहिए, परन्तु समझकर करना क्या?

उत्तर : सत् की प्रीति होने पर तुरन्त ही खाने-पीने का सब राग छूट जाय—ऐसा नियम नहीं, परन्तु उस ओर की रुचि तो अवश्य घटेगी। पर में से सुखबुद्धि उड़ जाती है और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे रहता है; अतः निरन्तर आत्मा की ही लालसा रहती है। मात्र 'श्रुतज्ञान ही समझते रहना'—ऐसा नहीं कहा है, परन्तु श्रुतज्ञान

द्वारा आत्मा का निर्णय करना है; श्रुतज्ञान के अवलम्बन की धुन आते ही देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, पर्याय आदि सभी जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए; इसमें भगवान कैसे, उनके शास्त्र कैसे, और वे क्या कहते हैं?—इन सबका अवलम्बन ऐसा निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है; ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी तू कर नहीं सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे हैं और उन देव-गुरु-शास्त्र को जानकर उनका अवलम्बन लेनेवाले स्वयं क्या समझते हैं, वह इसमें बताया है। हे जीव! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानना ही है; कुछ पर का करना या पुण्य-पाप का भाव करना, यह तेरा स्वरूप नहीं-ऐसा जो बताते हों, वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, और उसी प्रकार से जो समझे, वही देव-गुरु-शास्त्र कथित श्रुतज्ञान को समझता है परन्तु जो राग से धर्म मानते हों, शरीर की क्रिया आत्मा करे—ऐसा मानते हों, जड़कर्म आत्मा को दुःख देता है—ऐसा कहते हों, वे देव-गुरु-शास्त्र सच्चे नहीं, क्योंकि वे सच्चे वस्तुस्वरूप के जानकार नहीं, परन्तु सत्य से विपरीत स्वरूप बताते हैं।

श्रुतज्ञान के अवलम्बन का फल : आत्म-अनुभव

‘मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ’ पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं—ऐसे विचार द्वारा जिज्ञासु जीव, पहले यथार्थ निर्णय करता है; अभी ज्ञानस्वभाव का अनुभव नहीं हुआ, उसके पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह अल्प काल में आत्म-अनुभव करेगा

ही। प्रथम विचार में ऐसा निश्चय किया कि पर से तो मैं भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं, मेरे शुद्धस्वभाव के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थ से नहीं, मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव हुए बिना रहेगा ही नहीं। यहाँ आरम्भ ही इतना जोरदार हुआ है कि पीछे फिरने की बात ही नहीं।

‘पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं, मैं ज्ञायक हूँ’—जिसने निर्णय के द्वारा यह स्वीकार किया, उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायक-स्वभाव की ओर लगेगा। ‘मैं ज्ञानस्वभाव हूँ’—ऐसा जिसने आत्मा का निर्णय किया, उसे पुण्य-पाप का आदर नहीं रहा, इससे वह अल्प काल में पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वभाव का अनुभव करके, उसमें स्थिरता कर, वीतराग होकर पूर्ण परमात्मा हो जायगा। पूर्ण की ही बात है; आरम्भ हुई है, वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुई है। समझानेवाले और समझनेवाले दोनों को पूर्णता का ही ध्येय है। जो पूर्ण स्वभाव बताते हैं—ऐसे देव-गुरु-शास्त्र तो पवित्र हैं ही; और उस स्वभाव को जिसने स्वीकार किया, उसका भी परिणमन पवित्रता की ओर गया। पूर्ण को स्वीकार किया, वह पूर्ण होगा ही। इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धि है।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व....

यहाँ आत्मा का आनन्द प्रगट करने हेतु पात्रता का स्वरूप कहते हैं। हे भाई! तुझे धर्म करना है न! तो तू अपने को पहिचान। पहले ‘सच्चा निर्णय’ करने की बात है। अरे! तू है कौन? क्या

क्षणिक पुण्य-पाप का करनेवाला ही तू है ? नहीं, नहीं; तू तो ज्ञान करनेवाला ज्ञानस्वभावी है। पर को ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला तू नहीं है; जाननेवाला ही तू है—ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारम्भ का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। प्रारम्भ में अर्थात् सम्यग्दर्शन के पहले ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं है। मेरा सहज स्वभाव जानने का है—ऐसा श्रुत के अवलम्बन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिसको पात्रता हुई, वह आगे बढ़कर अनुभव करेगा ही। सम्यग्दर्शन करने के लिये पहले जिज्ञासु जीव, धर्म के सन्मुख हुआ; जीव, सत्समागम में आया; जीव, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभावी जाननेवाला हूँ, ज्ञेय में कहीं राग-द्वेष करके अटके, वह मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं। पर चाहे जो हो, मैं तो उसका केवल जाननेवाला मात्र हूँ। मेरा जाननेवाला स्वभाव, पर का कुछ करनेवाला नहीं। मैं जिस प्रकार ज्ञानस्वभावी हूँ; उसी प्रकार जगत के सभी आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं। जिन्होंने स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव के निर्णय में भूल की है, वे दुःखी हैं; वे जब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करेंगे, तब उनका दुःख टलेगा। मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं। परजीवों के दुःख मैं टाल नहीं सकता क्योंकि दुःख उन्होंने अपनी भूल से किये हैं, वे अपनी भूल टालें तो उनका दुःख टलेगा। किसी पर के लक्ष्य से अटक जाने का ज्ञान का स्वभाव नहीं—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना सम्यक्त्व की पात्रता है।



सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की रीति

[दूसरा भाग]

(समयसार, गाथा १४४ का प्रवचन)

सम्यग्दर्शन की जिसको जिज्ञासा है—ऐसा पात्र जीव प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के ज्ञान-स्वभाव को अव्यक्तरूप से लक्ष्य में लेता है, और उसके पश्चात् प्रगट लक्ष्य में लेकर साक्षात् अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है - किस भाँति ? वह यहाँ बताया है।

‘.....पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के हेतु, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धियाँ हैं, उनको मर्यादा में लाकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है....’ जैसा निर्णय किया था वैसा अब प्रगट अनुभव करता है, जो निर्णय किया था, उसका फल प्रगट होता है।

इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय जगत् के सब आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं, इससे सभी अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो अपने आत्मा का हित करना चाहते, उसको हो सकता है। परन्तु जीव ने अनादि से अपनी परवाह नहीं की। रे भाई! तू क्या वस्तु है, यह जाने बिना तू करेगा क्या ? पहले इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। यह निर्णय होते ही अव्यक्तरूप से आत्मा का लक्ष्य आया; उसके पश्चात् परलक्ष्य और विकल्प छोड़कर स्वलक्ष्य से प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिए, वह बताते हैं।

इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है, उसको बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करने से आत्मा प्रगट प्रसिद्ध होता है अर्थात् अनुभव होता है। आत्मा का प्रगटरूप अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

धर्म के लिये पहले क्या करना चाहिए ?

यह कर्ताकर्म अधिकार की अन्तिम गाथा है, इस गाथा में जिज्ञासु को मार्ग बताया है। लोग कहते हैं कि आत्मा को न समझ सके तो पुण्य का शुभभाव तो करना चाहिए या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं कि प्रथम स्वभाव समझना ही धर्म है। धर्म से संसार का अन्त आता है; शुभभाव से धर्म होता नहीं और धर्म-बिना संसार का अन्त आता नहीं। धर्म तो अपना स्वभाव है; इसलिए पहले स्वभाव समझना चाहिए। शुभभाव होता है अवश्य, पर वह कर्तव्य नहीं। शुभ-अशुभभाव तो अनादिकाल से करता आया है, वह कोई धर्म का उपाय नहीं है, किन्तु उस शुभ-अशुभभाव से रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान करना ही धर्म है।

प्रश्न : स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना चाहिए ? समझने में देर लगे तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर : रुचिपूर्वक प्रयत्न करे, उसको यह बात समझ में नहीं आये, ऐसा होता नहीं। समझने में देरी लगे, वहाँ समझने के लक्ष्य से अशुभभाव टलकर शुभभाव तो सहज ही होते हैं, परन्तु शुभभाव से धर्म नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए। जब तक कोई भी जड़ वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया जीव अपनी माने, तब तक वह सत्य समझने के मार्ग पर नहीं है।

सुख का मार्ग, सत्य को समझना;

विकार का फल जड़ का संयोग

जीव को यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो वह समझने का मार्ग लिये बिना रहेगा नहीं; सत्य समझना हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। चारित्रदशा में भले ही विलम्ब हो परन्तु मार्ग तो सत्य समझने का ही लेना चाहिए न! सत्य समझने का मार्ग ले तो सत्य समझे बिना रहेगा ही नहीं। यदि ऐसे मनुष्यभव में और सत्समागम के योग से भी सत्य न समझे तो फिर सत्य का ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। मैं कौन हूँ? – इसकी जिसको खबर नहीं और यहाँ ही स्वरूप को भूल जाता है तो परभव में जहाँ आयेगा, वहाँ क्या करेगा? स्वरूप के भान बिना शान्ति कहाँ से लायेगा? आत्मा के भान बिना कदाचित् शुभभाव किया हो तो उस शुभ के फल में आत्मा नहीं मिलेगा। आत्मा की शान्ति तो आत्मा में है, परन्तु उसकी तो परवाह भी नहीं।

असाध्य कौन और शुद्धात्मा कौन ?

जो जीव यहाँ ही जड़ के साथ एकत्वबुद्धि करके जड़ की भाँति हो गया है, अपने को भूलकर संयोगदृष्टि से मरता है, असाध्यरूप से वर्तता है, अर्थात् चैतन्यस्वरूप का भान नहीं, वह जीवित ही असाध्य है। भले शरीर हिले-चले-बोले परन्तु यह तो जड़ की क्रिया है, उसका स्वामी हुआ, परन्तु अन्तर में साध्य जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी जिसको खबर नहीं, वह 'असाध्य' है। वस्तु का स्वभाव यथार्थरूप से सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान से न समझे तो जीव को स्वरूप का किंचित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान

द्वारा स्वरूप की पहिचान और अनुभव किया, उसको ही 'शुद्ध आत्मा' ऐसा नाम मिलता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ'—ऐसा विकल्प छूटकर एकमात्र आत्म-अनुभव हो, तब ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा से पृथक् नहीं; वह शुद्ध आत्मारूप ही है।

जो सत्य चाहता हो, ऐसे जिज्ञासु-समझदार जीव को कोई असत्य कहे तो वह असत्य की स्वीकृति नहीं देगा - वह असत् को स्वीकार नहीं करेगा। राग से स्वभाव का अनुभव होगा - ऐसी बात उसको जमेगी नहीं। जो सत्स्वभाव चाहता हो, वह स्वभाव से विरुद्ध भाव की स्वीकृति नहीं देता, उसे अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका उचित निर्णय किया और राग से भिन्न होकर ज्ञान स्वसन्मुख होते ही जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म किस भाँति हो, धर्म करने के हेतु पहले क्या करना ? इस सम्बन्ध में यह कथन चलता है।

धर्म की रुचिवाला जीव कैसा होता है ?

धर्म के लिये पहले श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर श्रवण-मनन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए कि मैं एक ज्ञानस्वभावी हूँ, मेरे ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त कोई करने-धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् के समझने में जो समय जाता है, वह अनन्त काल से नहीं किया, ऐसा अपूर्व अभ्यास है। जीव को सत् की ओर की रुचि होने से वैराग्य जागृत होता है और समस्त संसार की ओर की रुचि हट जाती है। चौरासी के अवतार

का दुःख मन में आने लगता है कि 'अरे! यह दुःख क्या? यह दुःख कब तक? स्वरूप भान नहीं और क्षण-क्षण पराश्रयभाव में प्रसन्न होना - यह कोई मनुष्य जीवन है? तिर्यच आदि के दुःख की तो बात ही क्या, किन्तु इस मनुष्य पर्याय में भी ऐसा जीवन? और मरण समय स्वरूप के भान बिना असाध्य होकर मरना?' नहीं; अब इससे छूटने का उपाय करूँ और शीघ्र इस दुःख से आत्मा को मुक्त करूँ।—इस प्रकार संसार का दुःख होते हुए भी, स्वरूप समझने की रुचि होती है। स्वभाव समझने के लिये जो उद्यम होता है, वह भी ज्ञान की क्रिया है, सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को प्रथम ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। मैं एक जाननेवाला हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य-पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं, पुण्य-पाप के भाव या स्वर्ग-नरक आदि कोई गति मेरा स्वभाव नहीं—इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का निर्णय करना ही धर्म का प्रथम उपाय है। श्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल, उस निर्णय के अनुसार अनुभव करना ही है। आत्मा का निर्णय 'कारण' और आत्मा का अनुभव 'कार्य'—इस प्रकार यहाँ लिया गया है, अतएव जो निर्णय करता है, उसको अनुभव होता ही है - ऐसी बात की है। कारण के सेवन-अनुसार कार्य प्रगट होता ही है।

अन्तर-अनुभव का उपाय अर्थात् ज्ञान की क्रिया

आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् उसका प्रगट अनुभव किस प्रकार करना? - वह बताते हैं। निर्णय के अनुसार ज्ञान का आचरण, अनुभव है। प्रगट अनुभव में शान्ति का वेदन लाने के

लिये अर्थात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना, अर्थात् इन्द्रिय और मन का अवलम्बन छोड़कर ज्ञान को स्व की ओर मोड़ना। देव-गुरु-शास्त्र आदि परपदार्थों की ओर लक्ष्य तथा मन के अवलम्बन के कारण प्रवर्तती बुद्धि को संकोचकर-मर्यादा में लाकर ज्ञान को अपनी ओर मोड़ना, यह अन्तर-अनुभव का पंथ है और यही सहज शीतलस्वरूप अनाकुल स्वभाव में प्रवेश का द्वार है।

प्रथम, मैं आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ—ऐसा यथार्थ निश्चय करके, पश्चात् उसका अनुभव करने के लिये, पर की ओर लगे मति और श्रुतज्ञान को स्व की ओर एकाग्र करना। यथार्थ में तो जहाँ ज्ञानस्वभाव को लक्ष्यगत किया जाये, वहाँ मति-श्रुत का उपयोग अन्तर में जागृत हो ही जाता है; इसलिए जो ज्ञान, विकल्प में अटका है, वह ज्ञान वहाँ से छूटकर स्वभाव में आता है। ज्ञान आत्मसन्मुख होते ही स्वभाव का निर्विकल्प अनुभव होता है।

ज्ञान में भव नहीं

जिसने मन के अवलम्बन से प्रवर्तते ज्ञान को मन से छुड़ाकर स्व की ओर मोड़ा है अर्थात् पर की ओर लगे हुए मतिज्ञान को मर्यादा में लेकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनन्त संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करना, उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं; इसलिए जिसको स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ उदय हुआ, उसको भव की शंका रहती नहीं। जहाँ भव की शंका है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शंका नहीं – इस प्रकार 'ज्ञान' और 'भव' की एक-दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् 'मैं अबन्ध हूँ या बन्धवाला हूँ, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, त्रिकाली हूँ या क्षणिक हूँ'—ऐसी जो वृत्तियाँ उठें, उनमें भी आत्मशान्ति नहीं है, वे वृत्तियाँ आकुलतामय हैं, आत्म-शान्ति की विरोधिनी हैं। नय-पक्षों के अवलम्बन से हुए मन सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकल्पों को भी मर्यादा में लेकर आत्मा उन विकल्पों से भी ज्ञान को पृथक् करके श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करते हुए शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस भाँति मति और श्रुतज्ञान को आत्म-सन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन की रीति है। इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मतिज्ञान परलक्ष्य से प्रवर्तता है, उसको और मन के अवलम्बन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के नयपक्षों के विकल्पों में अटकता है उसको - अर्थात् बाह्य में भ्रमते मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर, अन्तरस्वभाव-सन्मुख करके, एक ज्ञानस्वभाव को पकड़कर (उपयोग में लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना, यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

अनुभव में आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ?

शुद्धस्वभाव आदि-मध्य-अन्त रहित त्रिकाल एकरूप है, उसमें बन्ध-मोक्ष नहीं, वह अनाकुलस्वरूप है। 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ'—ऐसे विकल्प से होनेवाली जो आकुलता, उससे रहित है। लक्ष्य में से पुण्य-पाप का आश्रय छूटने से एकमात्र आत्मा ही अनुभव में आता है, केवल एक आत्मा में पुण्य-पाप का कोई भाव नहीं है। मानों समस्त विश्व के ऊपर तैरता हो, अर्थात् समस्त

विभावों से भिन्न हो गया हो—ऐसा चैतन्यस्वभाव स्वतन्त्र अखण्ड प्रतिभासमय अनुभव में आता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है, अर्थात् उसमें मिल जाता नहीं, उसरूप होता नहीं, परन्तु उससे पृथक्-स्वतन्त्र रहता है। इसके अतिरिक्त वह अनन्त है, इसलिए उसके स्वभाव का कोई अन्त नहीं। पुण्य-पाप तो अन्तवाले हैं; ज्ञानस्वरूप अनन्त है और विज्ञानघन है, एकमात्र ज्ञान का ही पिण्ड है। अकेले ज्ञानपिण्ड में राग-द्वेष किंचित् भी नहीं है। राग का अज्ञानभाव से कर्ता था, परन्तु स्वभावभाव से राग का कर्ता नहीं है। अखण्ड आत्मस्वभाव का निर्णय करके, पश्चात् समस्त विभावभावों का लक्ष्य छोड़कर, ज्यों ही आत्मा, विज्ञानघन (अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सके ऐसे ज्ञान के पिण्डरूप) परमात्मस्वरूप समयसार का अनुभव करता है, त्यों ही वह स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखण्ड विज्ञानघन-स्वरूप ज्ञानस्वभावी आत्मा निश्चय है और परिणति को स्वभावसन्मुख करना, वह शुद्ध व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को स्वकी ओर झुकाने के पुरुषार्थरूपी जो पर्याय है, वह व्यवहार है; अखण्ड आत्मस्वभाव, निश्चय है। ज्यों ही मति-श्रुतज्ञान को अपनी ओर मोड़ा और आत्मा का अनुभव किया उसी समय आत्मा सम्यक् रूप से दिखता है - श्रद्धा में आता है। यह सम्यग्दर्शन प्रगट होते समय की बात है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता

है, आत्मा का सहज आनन्द प्रगट होता है, आत्मिक आनन्द का उफान आता है, अन्तर में आत्मशान्ति का वेदन होता है, आत्मा का सुख अन्तर में है, वह प्रगट अनुभव में आता है, यह अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं भगवान आत्मा समयसार हूँ'—ऐसा जो निर्विकल्प शान्तरस अनुभव में आता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद लिये हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना

सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के पश्चात्, मति-श्रुतज्ञान को उस स्वभाव की ओर झुकाने का प्रयत्न करना, निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना, यही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास करना है; बाह्य में कुछ करने का नहीं। ज्ञान में स्वभाव का अभ्यास करते-करते ज्यों ही एकाग्र हुआ, त्यों ही उस समय सम्यग्ज्ञानरूप से यह आत्मा प्रगट होता है। यह ही जन्म-मरण टालने का उपाय है। एकमात्र जानने का स्वभाव है, उसमें अन्य कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव के लिए ऐसा निश्चय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूसरा माने, उसको तो व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं। बाह्य से दूसरे लाख उपायों से भी ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही ज्ञान होता है; सबमें से एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को लेकर, पश्चात् उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिये, मति-श्रुतज्ञान की बाहर झुकती पर्यायों को

स्वसन्मुख करने से तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस के आनन्द का अनुभव होता है। अन्तर में दृष्टि करके परमात्मस्वरूप का दर्शन जिस समय करता है, उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। एक बार जिसकी आत्मा की ऐसी प्रतीति हो गयी है, उसको फिर विकल्प आये तो भी जो आत्म-दर्शन हो गया है, उसका तो भान है, अर्थात् आत्मानुभव के पश्चात् विकल्प उठे उससे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। सम्यग्दर्शन कोई वेष नहीं, किन्तु जिसे स्वानुभवरूप परिणमन हुआ, वह आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव करने के पश्चात् भी शुभाशुभभाव आते अवश्य हैं परन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शुभाशुभभाव भी हटते जाते हैं। बाहर के लक्ष्य से जो वेदन होता है, वह बहुत दुःखरूप है। अन्तर में शान्तरस की मूर्ति आत्मा है, उसके लक्ष्य से जो वेदन होता है, वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है; गुण, गुणी से भिन्न नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है और वह आत्मा ही है।

भव्य को सीख

हे भव्य! आत्मकल्याण के लिये तू यह उपाय कर। अन्य सभी उपाय छोड़कर यही करना है। हित का साधन बाहर लेशमात्र नहीं है। मोक्षार्थी को सत्समागम से ज्ञानस्वरूप आत्मा का निश्चय करना चाहिए। पहले अन्तर से सत् का स्वीकार किये बिना सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और सत्स्वरूप के ज्ञान बिना

भवबन्धन की बेड़ी नहीं टूटती। भवबन्धन के अन्त बिना जीवन किस काम का? भव के अन्त की श्रद्धा बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसके फल में राजपद या देवपद मिलेगा, परन्तु उसमें आत्मा का क्या? आत्मा के भान बिना तो यह पुण्य और यह देवपद सब धूल समान हैं, उनमें आत्मा की शान्ति का अंश भी नहीं। इसलिए पहले श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने से भव की शंका नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है, उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

भाई! प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है?—यह तूने जाना नहीं। तेरी प्रभुता के भान बिना तू बाहर में इसके—उसके गीत गाया करे तो उसमें कहीं तुझे तेरी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत गाये, परन्तु अपने गीत गाये नहीं, अर्थात् अपने स्वभाव की महत्ता जमी नहीं तो तुझे क्या लाभ? भगवान की मूर्ति के सामने कहे कि 'हे नाथ! हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो!' तो सामने से भी ऐसी प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के धनी हो...' अर्थात् जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसको तू पहिचान, तो तुझे तेरी प्रभुता का लाभ मिलेगा।

शुद्धात्मस्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो - जो कहो वह एक आत्मा ही है। ज्यादा क्या कहें? जो कुछ है, वह यही एक आत्मा है, उसे ही भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। केवली पद, सिद्ध पद या साध्य पद, ये सभी एक आत्मा में ही समाते हैं। ऐसे आत्मस्वरूप की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन है। ●●

सम्यक्त्व के लिये सरस आनन्द की बात

श्री समयसार की १४४ वीं गाथा अर्थात् सम्यग्दर्शन का मन्त्र... मुमुक्षु को अत्यन्त प्रिय यह गाथा, आत्मा का अनुभव करने की रीति बताती है। उसके प्रवचन आपने पढ़े। अब यहाँ उसका सार प्रश्नोत्तररूप में दिया है। बार-बार उसके भावों का गम्भीर मनन मुमुक्षु जीव को चैतन्य-गुफा में ले जायेगा।

**सम्यग्दर्शन का प्रयत्न समझाते हैं और
श्रद्धा के विकल्प से आगे ले जाते हैं**

प्रश्न : सम्यग्दर्शन करने के लिए मुमुक्षु को पहले क्या करना चाहिए ?

उत्तर : मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा निश्चय करना चाहिए।

प्रश्न : वह निर्णय किसके अवलम्बन से होता है ?

उत्तर : श्रुतज्ञान के अवलम्बन से वह निर्णय होता है।

प्रश्न : वह निर्णय करनेवाले का जोर कहाँ है ?

उत्तर : वह निर्णय करनेवाला, यद्यपि अभी सविकल्पदशा में है, किन्तु उसका विकल्प के ऊपर जोर नहीं, ज्ञानस्वभाव की ओर ही जोर है।

प्रश्न : आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि कब होती है ?

उत्तर : आत्मा के निश्चय के बल से निर्विकल्प होकर साक्षात् अनुभव करे तब।

प्रश्न : ऐसे अनुभव के हेतु मतिज्ञान ने क्या किया ?

उत्तर : वह पर से विमुख होकर आत्मसन्मुख हुआ।

प्रश्न : श्रुतज्ञान ने क्या किया ?

उत्तर : पहले जो नयपक्ष के विकल्पों की आकुलता थी, उससे पृथक् होकर वह श्रुतज्ञान भी आत्मसन्मुख हुआ, ऐसा करने से निर्विकल्प अनुभूति हुई, परम आनन्दसहित सम्यग्दर्शन हुआ, भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुआ, उसको धर्म हुआ और वह मोक्ष के मार्ग पर चला।

प्रश्न : आत्मा कैसा है ?

उत्तर : आत्मा ज्ञानस्वभाव ही है, 'ज्ञानस्वभाव' में रागादि नहीं आते, ज्ञानस्वभाव में इन्द्रिय या मन का अवलम्बन नहीं आता, अर्थात् जहाँ 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ' ऐसा आत्मा का निर्णय किया, वहाँ श्रुत का झुकाव इन्द्रियों और मन से तथा राग से हटकर ज्ञानस्वभाव की ओर हुआ। इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की ओर झुकने से जो प्रत्यक्ष साक्षात् निर्विकल्प अनुभव हुआ, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है, वही भगवान आत्मा की प्रसिद्धि है। यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मा की पर्याय है, वह आत्मा से भिन्न नहीं।

प्रश्न : ज्ञानस्वभाव के निर्णय द्वारा अनुभव होता है ?

उत्तर : हाँ, ज्ञानस्वभाव का सच्चा निर्णय जीव ने कभी किया नहीं। 'ज्ञान के बल से' सच्चा निर्णय करे तो अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। जिसके फल में अनुभव न हो, वह निर्णय सच्चा नहीं। विकल्प के समय मुमुक्षु का बल उस विकल्प की ओर नहीं, किन्तु 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ' ऐसा निर्णय करने की ओर बल है और ऐसे ज्ञान की ओर के बल से आगे बढ़कर ज्ञान को अन्तर में

संजोकर अनुभव करने से विकल्प छूट जाता है; ज्ञान का ज्ञानरूप परिणामन होता है। उसको आनन्द कहो, उसको सम्यग्दर्शन कहो, उसको मोक्षमार्ग कहो, उसको समय का सार कहो... सब उसमें समाता है।

प्रश्न : आत्मा का रस कैसा है ?

उत्तर : आत्मा का रस केवल विज्ञानरूप है; धर्मी जीव विज्ञानरस का ही रसिक है। राग का रस, आत्मा का रस नहीं है। जिसको राग का रस होता है, उसको आत्मा के विज्ञानरस का स्वाद अनुभव में नहीं आता। जब राग से भिन्न ऐसे वीतराग-विज्ञानरसपूर्वक आत्मा स्वाद में आता है, तभी सम्यग्दर्शन है। विज्ञानरस कहो या अतीन्द्रिय आनन्द कहो, सम्यग्दर्शन में उसका स्वाद अनुभव में आता है।

प्रश्न : मैं शुद्ध हूँ—ऐसा जो शुद्धनय का विकल्प—उसमें अटक जाना क्या है ?

उत्तर : वह मिथ्यादृष्टि का नयपक्ष है। सम्यग्दर्शन तो उस नयपक्ष से परे है। विकल्प की आकुलता के अनुभव में शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है; सम्यग्दर्शन में शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव है। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह अन्तर्मुख भावश्रुत का काम है, वह विकल्प का काम नहीं। विकल्प में आनन्द नहीं; उसमें तो आकुलता और दुःख है। भावश्रुत में आनन्द और निराकुलता है।

प्रश्न : अन्य विकल्पों की अपेक्षा क्या शुद्धात्मा का विकल्प अच्छा है ?

उत्तर : धर्म के हेतु तो एक भी विकल्प अच्छा नहीं है।

विकल्प की जाति ही आत्मा के स्वभाव से भिन्न है; अतः उसको अच्छा कौन कहे ? जैसे अन्य विकल्प में एकताबुद्धि मिथ्यात्व है, उसी प्रकार शुद्धात्मा के विकल्प में एकताबुद्धि भी मिथ्यात्व है; समस्त विकल्पों से परे ज्ञानस्वभाव को देखना-जानना-अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है; वही समय का सार है। भले ही शुद्ध का विकल्प हो - परन्तु उसको सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं कह सकते, उस विकल्प द्वारा आत्मा की भेंट नहीं होती। विकल्प, चैतन्यदरबार में प्रवेश पाने का द्वार नहीं है। ज्ञानबल से 'ज्ञानस्वभाव का निर्णय' ही चैतन्यदरबार में प्रवेश पाने का द्वार है।

प्रश्न : ज्ञान की प्राप्ति कहाँ से होती है ?

उत्तर : ज्ञान की प्राप्ति सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में से होती है; ज्ञान की प्राप्ति विकल्प में से नहीं होती। अन्दर शक्ति में जो पड़ा है, वही आता है, बाहर से नहीं आता। अन्दर की निर्मल ज्ञानशक्ति में अभेद हुई पर्याय, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित हो जाती है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन-हेतु पहला नियम क्या है ?

उत्तर : पहला नियम यह है कि 'मैं ज्ञानभाव हूँ' ऐसा श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निश्चय करना। सर्वज्ञ भगवान ने समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा जिस भावश्रुत का उपदेश किया था, उसके अनुसार श्रीगुरु से श्रवण करके अन्दर भावश्रुत द्वारा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना। भगवान ने श्रुत में ऐसा ही कहा है कि ज्ञानस्वभाव शुद्धात्मा है। ऐसा निर्णय करके गौतमादि जीवों ने भावश्रुतरूप से परिणमन किया, उससे 'भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया' - ऐसा कहा है। भगवान को तो केवलज्ञान है, परन्तु श्रोतागण भावश्रुतवाले हैं,

इससे भगवान ने भावश्रुत का उपदेश दिया - ऐसा कहा जाता है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा उपदेशित श्रुत में ऐसा निर्णय करवाया है कि 'आत्मा ज्ञानस्वभाव है।' ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन-हेतु पहला नियम है।

प्रश्न : आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् अनुभव के हेतु क्या करना चाहिए ?

उत्तर : आत्मा, अर्थात् ज्ञान की राशि, ज्ञानपुंज, ज्ञानस्वरूप। आत्मा, रागवाला नहीं, कर्मवाला नहीं; वह पर का करे, यह तो बात भी नहीं है।—ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, वहाँ 'अब हमको क्या करना चाहिए' यह प्रश्न रहता नहीं, परन्तु जिस स्वभाव का निर्णय किया, उस स्वभाव की ओर उसका ज्ञान झुकता है। निर्णय की भूमिका में यद्यपि अभी विकल्प है, अभी भगवान आत्मा प्रगट प्रसिद्ध हुआ नहीं है, अव्यक्तरूप से निर्णय में आया है किन्तु साक्षात् अनुभव में नहीं आया—उसको अनुभव में लेने के लिये क्या करना चाहिए ? कि निर्णय के साथ जो विकल्प है, उस विकल्प में नहीं अटकना, किन्तु विकल्प से भिन्न ज्ञान को अन्तर्मुख करके आत्मसन्मुख करना। विकल्प कोई साधन नहीं है। विकल्प द्वारा पर की प्रसिद्धि है, उसमें आत्मा की प्रसिद्धि नहीं, इन्द्रियों के विकल्पों की ओर अटका हुआ ज्ञान भी आत्मा को प्रसिद्ध नहीं कर सकता - आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु उस पर की ओर के झुकाव को छोड़कर ज्ञान को आत्म-सन्मुख करना, यही आत्मा की प्रसिद्धि की रीति है, यही अनुभव का उपाय है।

प्रश्न : सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा समस्त विश्व के ऊपर तैरता है – इसका क्या अर्थ ?

उत्तर : तैरता है, अर्थात् भिन्न रहता है; जिस प्रकार पानी में तैरता मनुष्य, पानी में डूबता नहीं, किन्तु ऊपर रहता है; उसी प्रकार ज्ञानस्वभावरूप से अपना अनुभव करनेवाला आत्मा, विकल्पों में डूबता नहीं, विकल्पों में एकाकार होता नहीं, किन्तु उनके ऊपर तैरता है, अर्थात् उनसे भिन्न स्वरूप ही अपने को अनुभव करता है, उसमें आत्मा की कोई अचिन्त्य परम गम्भीरता अनुभव में आती है।

प्रश्न : सम्यक्त्व के प्रयत्न का प्रारम्भ कैसा है ?

उत्तर : अपूर्व है, पूर्णता के लक्ष्य से वह प्रारम्भ है। 'ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय' अर्थात् पूर्णता का लक्ष्य; उस पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ, वह वास्तविक प्रारम्भ है। स्वभाव के निर्णय के काल में 'ज्ञान का' अवलम्बन है, विकल्प होते हुए भी उसका अवलम्बन नहीं है। विकल्प द्वारा सच्चा निर्णय नहीं होता; ज्ञान द्वारा ही सच्चा निर्णय होता है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप हो और विकल्परूप नहीं हो, अर्थात् आत्मसन्मुख हो, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की रीति है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप होकर आत्मा का अनुभव करता है।

(अन्त में अत्यन्त महिमापूर्वक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं कि)—अहा! अनुभवदशा का अचिन्त्य स्वरूप आचार्यदेव ने समझाया है; ऐसे अनुभव में आनन्द-परिणति खिलती है। स्वानुभव में ज्ञान भी अतीन्द्रिय है और आनन्द भी अतीन्द्रिय है। हे जीवों! आत्मसन्मुख होकर तुम ऐसा अनुभव करो! ●●

परिशिष्ट - 2

धर्मी श्रावक की दिव्यदृष्टि

[वीर सं० २४९० : भाद्र० शुक्ला २]

सोनगढ़ में 'भगवान भवन' के वास्तु प्रसंग पर

मंगल-प्रवचन

यह 'श्रावकाचार' ग्रन्थ श्री तारणस्वामी ने रचा है; वे अध्यात्म-दृष्टिवन्त थे; करीब ५०० वर्ष पहले मध्यप्रदेश में वे हो गये। श्रावकधर्म कैसा है और श्रावक की दिव्यदृष्टि कैसी होती है, उसका इसमें वर्णन है। प्रथम मंगलाचरण के रूप में ॐकार को नमस्कार करते हैं—

(गाथा १)

देवदेवं नमस्कृतं लोकालोकप्रकाशकं।

त्रिलोकं अर्थ ज्योतिः ॐकारं च वन्दते ॥

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, तथा वैमानिक - ये चार प्रकार के देव हैं; उन देवों से भी जो वन्दनीय, ऐसे सर्वज्ञदेव तीर्थकर परमात्मा और उनकी ॐकार वाणी, वे लोकालोक के प्रकाशक हैं। ज्ञानज्योतिरूप सर्वज्ञ परमात्मा हैं, उनके केवलज्ञानज्योति और दिव्यवाणी लोकालोक की प्रकाशक है; वह मंगलरूप है। प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ऐसा ही है। भगवान का ज्ञान और भगवान की वाणी, ऐसे शुद्धात्मस्वभाव की प्रकाशक है। ॐकार वह तीर्थकर भगवान की वाणी है और शुद्धात्मा उसका वाच्यरूप होने से उसको भी भाव ॐ कहते हैं। ऐसे ॐकार को वन्दन करके यहाँ मांगलिक किया है।

श्री तारणस्वामी को ॐकार के ऊपर बहुत प्रेम है। ॐ यह सर्वज्ञ भगवान की दिव्यवाणी है और भगवान स्वयं भी ॐ स्वरूप है। भगवान के १००८ नामों में सबसे पहला 'ॐकाररूप' ऐसा नाम पण्डित बनारसीदासजी ने लिखा है। भगवान की ॐकार वाणी सुनकर चार ज्ञान के धारक गणधरदेव एक अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना करते हैं। ऐसे सर्वज्ञदेव को और उनकी वाणीरूप ॐकार को नमस्कार करके, श्री तारणस्वामी ने मांगलिक किया है।

अब, स्वभाव की प्रकाशक और कुज्ञान की नाशक, ऐसी जिनवाणी -सरस्वतीदेवी को नमस्कार करते हैं :—

(गाथा १३)

**कुज्ञानतिमिरं पूर्ण अञ्जनं ज्ञानभेषजं ।
केवलीदृष्ट स्वभावं च जिनसारस्वती नमः ॥**

जिनेश्वर की वाणीरूपी सरस्वती कुज्ञान-तिमिर को मिटाने के लिये परम ज्ञान अञ्जन के समान है, और केवली प्रभु द्वारा देखे गये स्वभाव की वह प्रकाशक है; ऐसी जिनवाणीरूप सरस्वती को नमस्कार।

भाव-सरस्वती तो अन्तर का भावश्रुतज्ञान अथवा केवलज्ञान है और द्रव्य-सरस्वती वीतराग की वाणी है, उसको यहाँ नमस्कार किया है। कैसी है यह सरस्वती? शुद्धात्मा का प्रकाश करनेवाली है और मिथ्यात्व-अन्धकार को मिटानेवाली है। भावश्रुत में आनन्द का अनुभव है, इसलिए वह 'स-रस' है। अन्तर्दृष्टि से शुद्धात्मा का भावश्रुतज्ञान करना, यही सरस्वती की सच्ची उपासना है; ऐसे

भावश्रुत के बिना अज्ञानी जीव अनादि काल में अनेक बार द्रव्यलिंगी-दिगम्बर मुनि हुआ और पंचम महाव्रत का पालन करके नवमी ग्रैवेयक तक गया, किन्तु फिर भी भावश्रुत के बिना वह संसार में ही रहा। शुभराग में ऐसी ताकत नहीं जो अज्ञान-अन्धकार का नाश कर सके। अज्ञान-अन्धकार का नाश करने की ताकत भावश्रुतज्ञानरूप सरस्वती में ही है और उसमें निमित्तरूप वीतरागी सन्तों की वाणी है। दूसरों की वाणी अज्ञान मिटाने में निमित्त भी नहीं होती।

जैसा स्वभाव केवलज्ञानी भगवन्त ने देखा, वैसे ही स्वभाव की प्रकाशक जिनवाणी है। वस्तुस्वरूप का जैसा ज्ञान हुआ, वैसे ही वाणी में सहज आया, उसने शुद्ध आत्मा दिखाया। इस प्रकार शुद्धात्मा के प्रकाशक और अज्ञान के नाशक, ऐसे समयज्ञान को तथा जिनवाणी को नमस्कार करके उसका विनय किया।

इस प्रकार सर्वज्ञदेव को और उनकी वाणीरूप सरस्वती को नमस्कार करके, अब ३३ वीं गाथा में श्री तारणस्वामी सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं:—

(गाथा ३३)

सप्तप्रकृति विच्छेदात् शुद्धदृष्टिश्च दृष्टते।

श्रावकं अत्रतं जैनः संसारदुःखपरान्मुखं ॥

शुद्धदृष्टि से जिसने सम्यक्त्व प्रगट किया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव, वीतराग देव-गुरु का सच्चा भक्त होता है और श्रावकादि के सम्यक्धर्म का आचरण करनेवाला होता है तथा संसार दुःखों से वह पराङ्मुख होता है।

देखो, यह सम्यग्दर्शन मूल चीज है। श्रावक को भी पहले ऐसा सम्यग्दर्शन होना चाहिए। सम्यग्दर्शन के बाद ही पंचम गुणस्थान की श्रावकदशा हो सकती है, इसके बिना न तो श्रावकदशा हो सकती है और न मुनिदशा। इसलिए श्रावकाचार में पहले शुद्ध सम्यग्दर्शन की बात की है।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को दर्शनमोह की पाँच प्रकृतियाँ होती हैं और किसी सादि-मिथ्यादृष्टि को दर्शनमोह की सात प्रकृतियाँ होती हैं; अपने शुद्धात्मा के श्रद्धान से जीव जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, तब सातों प्रकृतियों का उच्छेद हो जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व-मोहनीय तथा सम्यक् मिथ्यात्वमोहनीय, ये सात प्रकृतियाँ दर्शनमोह की हैं। अपनी आत्मा का शुद्ध स्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूप है—उसकी दृष्टि से और अनुभूति से जब शुद्ध (क्षायिक) सम्यक्त्व होता है, तब मिथ्यात्व का तथा सातों कर्मप्रकृतियों का नाश हो जाता है। कर्मप्रकृतियाँ तो जड़ हैं, आत्मा न तो उनका कर्ता है और न नाशक, किन्तु आत्मा जब ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके मिथ्यात्व का अभाव करता है, तब मिथ्यात्वादि कर्मप्रकृतियों का नाश भी स्वयमेव हो जाता है, ऐसा सम्बन्ध है।

एक समय में अनन्त गुणों से परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसको भूलकर, रागादि विकार ही मैं, अथवा देहादि की क्रिया का कर्ता मैं—ऐसी भ्रान्ति पर्याय में अपनी भूल से अपने ही अपराध से जीव ने की है, तब कर्म की मिथ्यात्वादि सात या पाँच प्रकृतियाँ निमित्तरूप हैं। ज्ञानस्वभाव के सम्यक् पुरुषार्थ से उनका छेद हो जाता है।

मिथ्यात्वादि भावकर्म है और कर्मप्रकृति, वह द्रव्यकर्म है, भावकर्म तो आत्मा की पर्याय में है, द्रव्यकर्म तो अजीव में है। ज्ञानमूर्ति आत्मा की दृष्टि से जब सम्यग्दर्शन हुआ, तब मिथ्यात्वादि भावकर्म की उत्पत्ति ही नहीं हुई, इसको कहते हैं कि भावकर्म का नाश किया और निमित्तरूप कर्म का नाश किया, ऐसा भी उपचार से कहा जाता है। रागादि से धर्म या मोक्षमार्ग होगा, देहादि की क्रिया से धर्म या अधर्म होगा – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव और उसके साथ में जो अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभरूप विकार था, वह अनन्त संसार का कारण था और देह से भिन्न, विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से उसका नाश होने पर, अनन्त संसार का छेद हो जाता है। स्वभावदृष्टि की अस्ति में मिथ्यात्वादि की नास्ति है। अभेदस्वरूप शुद्ध आत्मा की दृष्टि करने पर, मिथ्यात्वादि भाव की विद्यमानता ही नहीं रहती, इसलिए आत्मा ने उसका नाश किया – ऐसा व्यवहार से कहा गया है और द्रव्यकर्म का भी नाश आत्मा ने किया – ऐसा भी उपचार से कहा गया है।

जड़ कर्मप्रकृति, आत्मा को दुःख नहीं करती, किन्तु मिथ्याश्रद्धा – मिथ्याज्ञान और राग-द्वेष, वही आत्मा को दुःखकारी है। वह मिथ्यात्वादिभाव, जड़कर्म नहीं कराते, किन्तु आत्मा स्वयं अपने अपराध से ही मिथ्यात्वादिरूप परिणमता है और सम्यग्दर्शन के सुलटे पुरुषार्थ से मिथ्यात्वादि मलिनभावों का छेद होकर, सप्त प्रकृति का भी छेद हो जाता है।

जीव का शुद्धस्वभाव, पर्याय में विकार, उसमें निमित्तरूप कर्मप्रकृति, उसका छेद – यह सब बात सम्यग्दर्शन के सिवा अन्यत्र

कहीं भी होती। आत्मा क्या है, उसका स्वभाव क्या है, पर्याय में अपराध कैसे हैं, उसमें निमित्त क्या है, उसका नाश कैसे हो—इन सब बातों का निर्णय करना चाहिए। देह से भिन्न आत्मा जीव है, उसका ज्ञानस्वभाव है, पर्याय में जो रागादि अपराध है, वह आस्रव-बन्ध है, उसमें निमित्त कर्मप्रकृति है, वह अजीव है, उस अपराध का नाश और निर्मल पर्याय की उत्पत्ति, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष है; ऐसे सातों तत्त्व का स्वरूप जानना चाहिए। दोष जीव स्वयं करता है, उसमें कर्म निमित्त है और शुद्धात्मा की दृष्टि तथा लीनता से दोष को छेदने पर कर्मप्रकृति भी छूट जाती है।

यहाँ 'शुद्धदृष्टि' कहने से क्षायिक सम्यक्त्व लिया है, सातों प्रकृति के क्षय से होनेवाले क्षायिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट बात ली है। क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व में भी है तो शुद्धदृष्टि; किन्तु क्षायिक सम्यक्त्व उत्कृष्ट और अप्रतिहत है। शुद्धात्मा की दृष्टिरूप सम्यक्त्व से ही धर्म का प्रारम्भ होता है, इसके बाद ही श्रावकदशा का पंचम गुणस्थान या मुनिदशा का छठा-सातवाँ गुणस्थान हो सकता है। पहले सम्यग्दर्शन के आचरण के बिना श्रावक का या मुनि का कोई आचार नहीं होता। इसलिए सम्यक्श्रद्धा की बात मुख्य (पहली) है; इसी को धर्म का मूल कहा है; यथा - 'दंसणमूलो धम्मो।' (दर्शनपाहुड़, गाथा-2)

सम्यग्दर्शन होते ही सिद्ध समान अपना शुद्धात्मा प्रतीति में-देखने में-श्रद्धान में-ज्ञान में और स्वानुभव में आ जाता है और तब से आत्मा में मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। इसके बाद ज्यों-ज्यों स्वरूप में स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों श्रावकधर्म या मुनिधर्म

प्रगट होता है। श्रावकपना, यह कोई बाहर की चीज़ नहीं है किन्तु आत्मा की अन्तर की स्वरूप-स्थिरतारूप वीतरागीदशा है। ऐसी दशा सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकती। जिसको सम्यक्त्व नहीं है, उसको तो अव्रती-जैनपना भी नहीं है। सच्चा जैनपना सम्यक्त्व से ही बनता है। शुद्धात्मा की दृष्टि के बल से जिसने मिथ्यात्व को जीत लिया, वही सम्यग्दृष्टि जैन है। इसके बाद ही व्रतादिरूप श्रावकाचार होता है। सम्यक्त्व के बिना व्रतादि करे तो भी वास्तव में वह जैन नहीं, मोक्षमार्गी नहीं, ऐसा तारणस्वामी भी कहते हैं। उसको सम्प्रदाय से, नाम से या स्थापना से भले ही जैन कहा जाये, किन्तु गुण से वह जैन नहीं, परमार्थ से मोह को जीतनेरूप जैनत्व उसको नहीं है।

देखो, यह जैन का स्वरूप! सच्चा जैन किसको कहना, इसकी भी लोगों को खबर नहीं है। पहला धर्मी, जिसको व्रत नहीं, चारित्र नहीं, किन्तु शुद्धात्मा की दिव्यदृष्टि है - ऐसा अव्रती सम्यग्दृष्टि जैन कैसा हो? यह दिखाया है। जिसको व्रतादि न होने पर भी, समस्त परभावों से भिन्न अपने शुद्धात्मा को देखता है, वह पहले दर्जे का जैन है, वह धर्मी है, वह मोक्ष का पथिक है। ऐसा जैन-सम्यग्दृष्टि संसार-दुःखों से पराङ्गमुख है। वह मोक्ष के सन्मुख है और संसार से पराङ्गमुख है।

‘जैन अर्थात् जीतनेवाला; किसको जीतनेवाला? बाहर कोई शत्रु नहीं है, किन्तु अन्तर में राग, द्वेष, मोह, अज्ञानरूप शत्रु है उसको सम्यक्त्वादि भावों से जो जीते-नष्ट करे, वह सच्चा जैन है। ऐसा जैनतत्व का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को जीतने

से होता है। अपनी पर्याय में जो मिथ्यात्वादि शत्रु हैं, उनको जो स्वभाव के आश्रय से जीते, वही जैन है। जैनत्व का पहला नम्बर सम्यक्त्व से ही शुरु होता है, इसके बिना 'जैन' में नम्बर नहीं मिल सकता। बाह्य में व्रतादि शुभाचरण करे, उसमें पुण्य है, परन्तु आत्म-ज्ञान के बिना भवदुःख से छुटकारा नहीं होता; इसलिए कहा कि सम्यग्दृष्टि भवदुःख से पराङ्गमुख है। रागादि तो भव का हेतु है, इसलिए राग में जो धर्म मानता है, वह वास्तव में भवदुःख से पराङ्गमुख नहीं है, वह तो मोक्ष से पराङ्गमुख है, और भवदुःख के सन्मुख है। धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी भवदुःख से पराङ्गमुख और मोक्षसुख के सन्मुख है - यही है जैन!

जैनपना तो उसको कहते हैं कि जिसमें संसारदुःख से और उसके कारणों से विमुखता हो तथा स्वभाव की सन्मुखता हो। संसारदुःख से विपरीत ऐसे आत्मिक सुख को भोगनेवाला धर्मात्मा जैन होता है; ऐसे जैन को अपने आत्मा की दिव्यदृष्टि होती है। अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव में अन्तर्दृष्टि करने पर संसारदुःख से पराङ्गमुख हो जाता है अर्थात् विभाव में से उनकी परिणति हट जाती है और स्वभाव की ओर झुक जाती है। चौथे गुणस्थान में अव्रती सम्यग्दृष्टि भी ऐसा होता है। श्रावकपना और मुनिपना तो इसके बाद आता है। तीर्थकरदेव क्या कहते हैं, साधु क्या कहते हैं और ज्ञानी क्या कहते हैं - यह भी जिसको खबर नहीं और अपने आपको 'जैन' या श्रावक मान ले, किन्तु यहाँ श्री तारणस्वामी उसको सच्चा जैन या सच्चा श्रावक नहीं कहते। जैन होने के लिये अन्तर में प्रयत्न करना पड़ेगा और श्रावकदशा (पंचम गुणस्थान)

के लिये तो और भी ज्यादा प्रयत्न करना पड़ेगा; फिर मुनिदशा के वीतरागी प्रयत्न की तो बात ही क्या ?

मैं शुद्ध ज्ञान-प्रकाशी चैतन्यसूर्य आत्मा हूँ - ऐसी शुद्धदृष्टि करनेवाले को भगवान जैन कहते हैं और वे संसार से पराङ्गमुख होते हैं। आकुलता, वह दुःख है। सम्यग्दृष्टि ने निराकुल आनन्द का अनुभव किया है, इसलिए वह दुःख से पराङ्गमुख है। दुःख से रहित ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जिसने नहीं लिया, उसको भवदुःख से पराङ्गमुखता नहीं हो सकती। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार है, उसमें घुसकर अन्तर में एकाकार होकर जो सम्यग्दृष्टि हुआ, जैन हुआ, उसकी परिणति भवदुःख से पराङ्गमुख हो गयी और स्वभावसुख के सन्मुख हो गयी। अभी उसको राग भी है, किन्तु उसकी दृष्टि राग से विमुख है, परिणति ने अपना मुँह स्वभाव की ओर फेर लिया है।

जब सम्यग्दर्शन हुआ, तभी से सम्यग्दृष्टि सुख का ही अनुभव करनेवाला है और राग की जो आकुलता है, उससे वह पराङ्गमुख है, अर्थात् शुद्धदृष्टि में शुद्धता की ही प्रधानता है, अशुद्धता की गौणता या अभाव है। अपने में अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार उसने देखा है। पर की ओर से तथा विकार की ओर से अपना मुँह (दृष्टि) हटाकर स्वभाव की ओर फेर लिया है। मैं पुण्य-पाप का कर्ता, अल्प पर्याय जितना ही मैं, देहादि की क्रिया का कर्ता मैं— ऐसी जो अनादि की विपरीत मान्यता थी, तब स्वभाव से विमुखता थी, उसको टालकर अब राग से विमुख हुआ और स्वभाव के सन्मुख हुआ; परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाव ही मैं हूँ—ऐसे

स्वभाव-सन्मुख हुआ, तब पर-राग और अपूर्णता की ओर से मुँह वापस फेर लिया, सारी दृष्टि ही पलट गयी। इसी का नाम है दिव्यदृष्टि!

जो धर्म लेने को आया है, उसको परीक्षा करके धर्म की सच्ची पहिचान करनी चाहिए। धर्म तो अपूर्व अमूल्य चीज़ है। इसके लिये आत्मा क्या, जड़ क्या, आत्मा की क्रिया कौन सी, विकार क्या, मोक्षमार्ग क्या - इन सबकी पहिचान करनी चाहिए। कौन सा भाव धर्म है, कौन सा भाव धर्म नहीं है - इसकी पहिचान के बिना धर्म के बदले में अधर्म ले लेगा या जीव के बदले में अजीव को जीव समझ लेगा, या विकार को धर्म मान लेगा, उसको सच्चा धर्म कहाँ से मिलेगा? पर से-विकार से भिन्न अपना असली स्वरूप क्या है - उसकी खोज करना चाहिए। जिसने अपने अन्तर में आत्मा की खोज की, वह सम्यग्दृष्टि भवदुःख से पराङ्गमुख है। ऐसी दशा चतुर्थ गुणस्थान में होती है; इसके बाद शुद्धता की वृद्धि होने पर पंचम गुणस्थान होता है, वहाँ श्रावक के बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा आदि होते हैं।

ऐसे धर्मात्मा-श्रावक की दृष्टि कैसी होती है, यह बात गाथा ३५३ में श्री तारणस्वामी कहते हैं—

(गाथा ३५३)

द्रव्यदृष्टि च सम्पूर्णं शुद्धं सम्यग्दर्शनं ।

ज्ञानमयं सार्थं शुद्धं करणानुयोग चिन्तनं ॥

देखो, यहाँ चरणानुयोग के चिन्तन में द्रव्यदृष्टि की बात ली। शुद्धात्मा की दृष्टि करना, यही समस्त अनुयोगों का फल है।

- द्रव्यानुयोग में आत्मा के अध्यात्म-अनुभव की बात है,
- करणानुयोग में आत्मा के सूक्ष्म परिणामों का कथन है,
- कथानुयोग में तीर्थकरादि पुराणपुरुषों की आराधना का वर्णन है,

- चरणानुयोग में श्रावक तथा मुनियों के आचार का वर्णन है।

किन्तु चारों अनुयोग का सच्चा रहस्य शुद्धात्मा की दृष्टि से ही समझ में आता है। यहाँ कहते हैं कि द्रव्यार्थिकनय पूर्ण द्रव्य को देखनेवाला है, सम्पूर्ण आत्मद्रव्य को देखना ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है। 'द्रव्यदृष्टि, सो सम्यग्दृष्टि' पूर्ण स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि, वही शुद्धदृष्टि है और वही सम्यग्दर्शन है। त्रिकाली स्वभावरूप वस्तु-जिसमें विकार नहीं, गुण-गुणी भेद का विकल्प नहीं, पर से सम्बन्ध नहीं - ऐसे एकाकार शुद्ध अभेद द्रव्य को देखना-अनुभव में लेना, सो सम्यग्दर्शन है। इसमें अपने आत्मा पर ही दृष्टि है, दूसरों के ऊपर दृष्टि नहीं है। शुभभाव के समय बाह्य में पञ्च परमेष्ठी पर लक्ष्य जाये और भक्ति-पूजा का भाव हो, किन्तु उस समय भी सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अपने चैतन्य भगवान के ऊपर है। अन्तर में अपने चैतन्य भगवान को देखना (श्रद्धना), सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन पर के लक्ष्य से नहीं होता, अपने में पर्याय के लक्ष्य से भी नहीं होता। मेरा आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड है, मैं ही उसका आधार हूँ और अनन्त गुण आधेय हैं—ऐसे आधार-आधेय आदि के विकल्प भी द्रव्यदृष्टि में नहीं हैं। एकाकार द्रव्य ही निर्विकल्प प्रतीति में आया है। इस प्रकार पूर्ण ज्ञायक आत्मा को देखनेवाला जो द्रव्यार्थिकनय है, वही द्रव्यदृष्टि है, वही सम्यग्दर्शन

है, ऐसे सम्यग्दर्शन से ही स्व-घर में वास होता है, यही सच्चा वास्तु है।

देखो! यह आत्मा का वास्तु होता है। ईंट-पत्थर के घर में आत्मा का वास नहीं है। आत्मा का वास तो अपने अनन्त गुण-पर्यायरूप चैतन्यघर में है। ईंट-पत्थर का मकान तो जड़ का बना हुआ है, वह आत्मा का स्वघर नहीं है; आत्मा का स्वघर तो चैतन्यमय है। द्रव्यदृष्टि से ऐसे आत्मा में जिसने प्रवेश किया, उसने स्वघर में वास किया। तारणस्वामी कहते हैं कि जिस दृष्टि में सम्पूर्ण द्रव्य आया उस दृष्टि में आत्मा का वास हुआ, ऐसी दृष्टिवाले जीव ने आत्म-घर में वास किया। अज्ञान से विकार में वास था, उसको छोड़कर सम्यक्त्व के द्वारा अब पवित्र चैतन्य-घर में प्रवेश किया, यह मंगल वास्तु है। 'भगवान' अपने स्व-घर में आकर बसे। द्रव्यदृष्टि में आया, वही सम्पूर्ण आत्मा है। अकेली पर्याय को लक्ष्य में लेने से भी सम्पूर्ण द्रव्य प्रतीति में नहीं आता। पर्याय भले पूरी हो तो भी वस्तु इतनी मात्र नहीं है, इसलिए वह अपूर्ण है। एक गुण, गुणरूप से पूर्ण हो किन्तु पूरी वस्तु तो एक गुण जितनी नहीं है; इसलिए गुण-पर्याय के भेद से सम्पूर्ण वस्तु अनुभव में नहीं आती। पूरी वस्तु जितनी हो, उतनी लक्ष्य में ले तभी सम्पूर्ण दृष्टि कहलायेगी। द्रव्यदृष्टि में जो अभेद स्वभाव आया, वही सम्पूर्ण आत्मा है, इसलिए द्रव्यदृष्टि को सम्पूर्ण दृष्टि कहा। ऐसी दृष्टि के बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं; और इसके बिना श्रावक का एक भी धर्म नहीं हो सकता।

पूर्ण द्रव्य को देखना जिसका प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय

है। ऐसे द्रव्यार्थिकनय से जिसने आत्मा को देखा, उसने अपने आत्मा में मोक्ष का मण्डप रोपा। सम्यग्दर्शन है, सो आत्मा के मोक्षमण्डप का मंगल-स्तम्भ है। जैसे विवाह-मण्डप में मंगल-स्तम्भ रखते हैं; वैसे यहाँ मोक्ष के विवाह मण्डप साधक जीव मंगलरूप से सम्यग्दर्शनरूपी माणिक-स्तम्भ रखते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, वे चार मोक्षमार्ग के स्तम्भ हैं; उनमें भी सम्यग्दर्शन मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकधर्म या मुनिधर्म भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना भगवान की सच्ची परमार्थ-भक्ति या जिनवाणी की सच्ची उपासना नहीं होती। ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शन का लाभ द्रव्यदृष्टि से होता है।

देखो, यह आत्मा के लाभ की बात! देह में विराजमान भगवान आत्मा है, उसका लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन का सवाया लाभ होता है। 'लक्ष्य' का लाभ है। 'लक्ष्य' कहने से लाख रुपया नहीं परन्तु चैतन्य का लक्ष्य, उसी में सच्चा लाभ है। सम्यग्दर्शन के बिना जीव को धर्म का सच्चा लाभ नहीं होता -

- अकेली राग की मन्दता से धर्म का लाभ नहीं होता;
- करोड़ों रुपयों की लक्ष्मी से भी धर्म का लाभ नहीं होता;
- कुटुम्ब-परिवार से भी धर्म का लाभ नहीं होता;
- चैतन्य के लक्ष्य से ही धर्म का लाभ होता है।

यहाँ 'शुद्ध' सम्यग्दर्शन कहा है; 'शुद्ध' का अर्थ है निश्चय; व्यवहार में जो शुभराग है, वह 'शुद्ध' नहीं है। जो पराश्रित श्रद्धा है, या भेदरूप श्रद्धा है वह, शुद्ध दृष्टि नहीं है। शुद्ध आत्मा की दृष्टि,

वही शुद्ध श्रद्धा है। ऐसी दृष्टि से ही ज्ञानमय शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है, स्वभाव के आनन्द के अनुभव का लाभ शुद्ध दृष्टि से ही मिलता है। श्रावकपना इसके बाद होता है।

भाषा में या अक्षरों में ज्ञान नहीं है; अन्दर चैतन्य पदार्थ में ज्ञान है, उसका अनुभव होने से ही मोक्षमार्ग हो सकता है। गृहस्थ-श्रावक को चौथी भूमिका में इसका अनुभव हो जाता है। देखो, यह करणानुयोग के चिन्तन का फल।

जैनधर्म के किसी भी अनुयोग का फल शुद्धात्मा की ओर ही ले जाता है। करणानुयोग में भी आत्मा के सूक्ष्म परिणाम का विचार करके, उसका जाननहारा आत्मा त्रिकाल है - इसको जाने, तब करणानुयोग के चिन्तन का फल आये। शुद्धात्मा को न जाने तो करणानुयोग आदि का सच्चा फल आता नहीं।

ज्ञानावरणादि आठ कर्म, उसकी १४८ प्रकृतियाँ, इनमें से प्रत्येक गुणस्थान में इतनी प्रकृतियों की सत्ता, इतनी का उदय, इतनी का बन्ध, इतनी की व्युच्छिन्ति-इत्यादि करणानुयोग की विचारणा का फल क्या? तो कहते हैं कि स्व-पर के सूक्ष्म परिणाम की विचारधारा में शुद्ध द्रव्यस्वभाव का लाभ होना, यही उसका फल है। करणानुयोग में भी वीतरागता का ही तो उपदेश है। जैनधर्म के चारों अनुयोग का या सभी शास्त्रों का सार भगवान ने 'वीतरागता' कहा है (पंचास्तिकाय गाथा १७२)। यह वीतरागता कैसे हो? सभी शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है, करणानुयोग का तात्पर्य भी वीतरागता है। पर-निमित्त-राग या भेद के ऊपर से दृष्टि को हटाकर शुद्ध आत्मा के ऊपर दृष्टि देने से वीतरागता होने लगती

है और यही शास्त्र-पठन का फल है। अकेले शब्दों को कण्ठस्थ कर लेने से शास्त्र का फल नहीं मिल जाता।

अब द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने के लिये श्री तारणस्वामी कहते हैं—

(गाथा ३५६)

**द्रव्यानुयोग उत्पाद्यं द्रव्यदृष्टि च संयुतं ।
अनन्तानन्तद्विष्टंते स्वात्मानं व्यक्तरूपयं ॥**

द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना चाहिए, साथ में द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध आत्मा की दृष्टि भी प्राप्त करनी चाहिए, जिससे अपने शुद्ध आत्मा के समान जगत की अनन्तानन्त आत्माएँ प्रगटरूप से दिखलायी पड़ें।

देखो, यह श्रावक का काम! श्रावक को भी द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना चाहिए और शुद्धदृष्टि प्रगट करनी चाहिए। आत्मा क्या है, स्वभाव क्या है, विभाव क्या है, अजीव क्या है?— इन सबका अभ्यास तत्त्वदृष्टि से करना चाहिए। द्रव्य की अर्थात् शुद्धात्मा की जिसमें प्रधानता हो, ऐसा 'द्रव्यानुयोग उत्पाद्य' अर्थात् अपने ज्ञान में उसका अभ्यास करके सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करना। द्रव्यानुयोग का ऐसा अभ्यास वीतरागता का कारण है।

चारों अनुयोगों में द्रव्यानुयोग का अभ्यास आत्म-प्राप्ति का मुख्य साधन है। उसके साथ शुद्धदृष्टि भी करनी चाहिए। अकेला परलक्ष्यी अभ्यास कर ले, उसकी बात नहीं है, किन्तु शुद्ध आत्मा की अन्तर्दृष्टि के साथ अभ्यास करने की बात है। शुद्धदृष्टि के बिना ज्ञान भी सच्चा नहीं होता। आत्मा को शुद्धदृष्टि से जो देखता

है, उसको सब आत्मा भी शुद्धस्वभाववाले दिखते हैं। राग की दृष्टि हटकर ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई, तब अपना आत्मा परमात्मसुख से परिपूर्ण देखा, अपने में से पर्यायबुद्धि छूट गयी, और दूसरों को भी अकेली पर्यायदृष्टि से न देखकर उनके स्वभाव को देखता है। अनन्त आत्मा भिन्न-भिन्न हैं और प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण हैं – यह जैन सर्वज्ञ परमेश्वर ने साक्षात् देखी हुई बात है। 'अन्त में तो सब एक ही हैं?' तो कहते हैं कि नहीं है। मुक्त अवस्था में भी अनन्त सिद्ध आत्माओं की प्रत्येक की अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सत्ता है; मुक्त जीव एक नहीं, अनन्त हैं। अनादि से प्रत्येक जीव भिन्न है और मोक्ष में भी अनन्त काल तक भिन्न ही रहते हैं।

सर्वज्ञदेव की स्तुति करते हुए साधक कहता है कि हे सर्वज्ञ प्रभो! आप सभी आत्माओं को शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, अपनी-अपनी पृथक् सत्तावाले देख रहे हो और ऐसा ही आपकी वाणी में आया है। राग, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं; सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को तथा दूसरे आत्मा को भी, राग को गौण करके शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप देखता है, यह सच्चे ज्ञान की रीति है। पर्याय में विविधता है – कोई अनन्त संसारी, कोई वीतरागी, कोई रागी, कोई कर्म से बँधा हुआ, कोई मुक्त – किन्तु पर्याय के भेद को गौण करके, यदि द्रव्यदृष्टि से देख जाय तो सभी जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी हैं, स्वभाव में अन्तर नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय या सिद्ध-सभी जीव चैतन्य ज्योति हैं। इन्द्रिय, आत्मा नहीं है; आत्मा तो चैतन्य है। ऐसा वस्तुस्वरूप अन्तर्दृष्टिवन्त सम्यग्दृष्टि ही देखते हैं। पर्याय में तो सभी जीवों को शुद्धता प्रगट नहीं हुई है,

किन्तु जिसने अपने में पर्याय को गौण करके शुद्ध द्रव्य को प्रगट देखा, वह सभी जीवों में भी पर्याय को गौण करके शुद्धस्वरूप को प्रगट देखता है।

अहो! आत्मा के स्वभाव की असली वस्तु तो यह है! अपने ऐसे वस्तुत्व में आत्मा बसता है। क्या ईट-पत्थरों में आत्मा बसता है?—नहीं; ईट-पत्थर के बने हुए मकान में चैतन्यमूर्ति आत्मा का वास नहीं होता; चैतन्य का वास जड़ में कैसे हो सकता है? चैतन्यस्वरूप आत्मा का वास्तु तो अपने अनन्त निर्मल गुण-पर्याय में ही है। - यह है चैतन्य भगवान का सच्चा वास्तु।

अब द्रव्यदृष्टि की दिव्यता दिखाते हैं—

(गाथा ३५७)

दिव्यं द्रव्यदृष्टि च सर्वज्ञं शाश्वतं पदं।

नंतानंत चतुष्टं च केवलं पद्मम् ध्रुवं ॥

द्रव्यदृष्टि अपूर्व है—दिव्य है—शोभनीक है, जो अपने आत्मा को सर्वज्ञ और अविनाशी पद में दिखाती है; जो अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यरूप चतुष्टय को झलकाती है। जो केवल, परसंग रहित निश्चल अविनाशी, प्रफुल्लित कमल के समान विकसित और निर्लेप आत्मा को प्रकाशित करती है।

ऐसी दिव्यदृष्टि श्रावकों को भी होती है। द्रव्यदृष्टि को दिव्य कहकर शुद्ध निश्चयनय की या द्रव्यार्थिकनय की महिमा बतायी है। ऐसी दिव्य द्रव्यदृष्टि का अभ्यास जीव को वीतरागता और आत्मानुभव की गुफा में पहुँचा देता है। यह दिव्यदृष्टि मोक्षमार्ग में परम सहायक है। मोक्षमार्ग को देखने के लिये यह दिव्यचक्षु है।

इसके बिना मोक्षमार्ग देखा नहीं जाता ।

देखो तो सही! सन्तों ने आत्मा की कैसी महिमा की है!! आत्मा का कैसा गुणगान किया है! किन्तु लोगों को चैतन्यतत्त्व की महिमा की खबर नहीं।

द्रव्यदृष्टि दिव्य है, अपूर्व है; एक ज्ञायक परमानन्द आत्मा को देखनेवाली दृष्टि ही दिव्य है, वही प्रधान है और वही अपूर्व है। ऐसी दृष्टि एक समय में पूर्णानन्द से भरपूर भगवान को देखती है; इसलिए वह पूर्ण दृष्टि है। इसके सिवाय बाह्य दृष्टि-व्यवहार दृष्टि तो जीव ने अनन्त बार की, वह अपूर्व नहीं, दिव्य नहीं। सर्वज्ञ स्वभाव से भरा हुआ जो शाश्वत चैतन्यपद, उसको द्रव्यदृष्टि देखती है; इसलिए वह दिव्य है। अहा! यह दिव्यदृष्टि अपने में सर्वज्ञपद को दिखाती है। अपने में सर्वज्ञता भरी हुई है, वह इस दिव्यदृष्टि के द्वारा ही दिखलायी देती है। सर्वज्ञपद के निधान को यह दिव्यदृष्टि ही खोलती है। पर की सर्वज्ञता पर में रही, अपना सर्वज्ञपद अपने स्वभाव में है, उसको यह द्रव्यदृष्टि देखती है। ऐसी दृष्टि प्रगट करना, यह तो श्रावकाचार से भी पहले का धर्म है; मुनिधर्म तो इससे बहुत ऊँचा है। पहले अन्तर की दिव्यदृष्टि से अपने स्वभाव को देखे, इसके बाद ही श्रावकधर्म या मुनिधर्म हो सकता है।

अपने ज्ञायकस्वभाव को देखनेवाली यह दृष्टि अपूर्व है, वह निज पद को दिखाती है और ऐसी दृष्टि प्रगट करना, वही जैनपना है। किसी वस्त्रादि में या वस्त्र के त्याग में जैनत्व नहीं रहता; जैनत्व तो आत्मा की सच्ची दृष्टि में और लीनता में रहता है। नित्यानन्दी प्रभु-ध्रुवपद आत्मा को ध्रुवदृष्टि देखती है; इसी दृष्टि

को 'दिव्य' कहते हैं क्योंकि वही आत्मा को देखनेवाली दिव्य आँख है, वही अपूर्व (अतीन्द्रिय) चक्षु है, दिव्यचक्षु है। यह बाहर की आँखें तो मिट्टी की हैं; जो पर को ही देखे और स्व को न देखे, वह दिव्यदृष्टि नहीं है। अपने अन्तर में सर्वज्ञ पद को जो देखे, वही दिव्यदृष्टि है। यह दृष्टि अनन्त चतुष्टयस्वरूप अपनी आत्मा को झलकाती है। जिसको ऐसी दिव्यदृष्टि हुई, उसकी आत्मा में अवश्य अनन्त चतुष्टय झलकेगा।

देखो, यह धर्मी श्रावक की द्रव्यदृष्टि! केवल अर्थात् असहाय – दूसरों की जिसमें सहाय नहीं, राग का या इन्द्रियों का जिसमें अवलम्बन नहीं, पर का जिसे संग नहीं, जिसमें विकार नहीं – ऐसे अबद्धस्पृष्ट आत्मा को देखनेवाली जो दृष्टि है, वह सम्यग्दर्शन है, उसी को यहाँ दिव्यदृष्टि कही है। दिव्यदृष्टि कहो या द्रव्यदृष्टि कहो, या भूतार्थदृष्टि कहो, सम्यग्दर्शन कहो—यही श्रावकधर्म और मुनिधर्म का मूल है।

परमानन्दस्वरूप आत्मा बाहर की दृष्टि से नहीं दिखता, उसको देखनेवाली तो दिव्यदृष्टि है। ऐसी दिव्यदृष्टि से चैतन्य-कमल का विकास होकर केवलज्ञान खिल जाता है और अनन्त-चतुष्टय झलक उठते हैं। ऐसे चैतन्य-कमल को खिलानेवाली (विकसित करनेवाली) यह दिव्यदृष्टि है। भीतर में केवलज्ञानस्वभाव को देखनेवाली शुद्धदृष्टि के बल से अनन्त चतुष्टय-कमल विकसित हो जाता है, आत्मा प्रफुल्लित होता है; किन्तु ऐसी दृष्टि के बिना कोई राग से या व्यवहार-क्रिया से आत्मा प्रफुल्लित नहीं होता; अपितु संकुचित होता है।

देखो, यह दिव्यदृष्टि की महिमा! ऐसी दृष्टि से श्रावक भी अपने ध्रुव-असहाय-चैतन्यकमल को एकाकाररूप देखता है, और इससे अनन्त सुख पाता है। शक्ति में कारणरूप जो चतुष्टय विद्यमान हैं, उनके ऊपर दृष्टि लगाने से वह चतुष्टय कार्यरूप व्यक्त हो जाते हैं। जिसमें अनन्त चतुष्टय भरा हुआ है, ऐसे निर्लेप चैतन्य-स्वभाव के ऊपर दृष्टि लगाकर अभ्यास करते-करते पर्याय में वह खिल जायेगा, किन्तु इसके सिवा अन्य किसी उपाय से-रागादि के, निमित्त के या व्यवहार के अभ्यास से केवलज्ञान होगा - ऐसा यह दृष्टि नहीं दिखलाती और यदि ऐसा देखे तो वह दृष्टि सच्ची नहीं है।

आत्मा में अनन्त चतुष्टय भरा है, उसको धर्मी की दृष्टि देखती है और उसमें एकाग्र होने से ही पर्याय में परमात्मपद खिलता है, ऐसा यह दृष्टि दिखाती है। इसके सिवाय परमात्मपद होने की अन्य कोई क्रिया नहीं, दूसरा कोई यथार्थ कारण नहीं।

यह द्रव्यदृष्टि कहो, दिव्यदृष्टि कहो, धर्म की नींव कहो, इसके बाद ही विशेष स्थिरता होने पर श्रावकपना या मुनिपना आता है। जितनी रागरहित स्थिरता हुई, उतना निश्चयधर्म है और श्रावक के या मुनि के व्रत-महाव्रत आदि जो शुभविकल्प हैं, वह व्यवहारधर्म हैं; किन्तु ऊपर कही ऐसी शुद्ध दिव्यदृष्टि के बिना कभी न तो सच्चा श्रावकपना होता है और न मुनिपना। इसलिए श्रावकधर्म के वर्णन में पहले यह दृष्टि दिखायी।

जय हो... ऐसी दिव्यदृष्टि के धारक सन्तों की! ●●